इस्लाम और आर्य समाज

गंगाप्रसाद उपाध्याय

अ तामुरूनन्नास बिल्बिर्रि व तनसौन
अन् फ़ुसकुम् ।

(कुरान—सूरा बक़र)

क्या तुम दूसरों को उपदेश देते हो और
अपने को भूल जाते हो।

ओ३म्
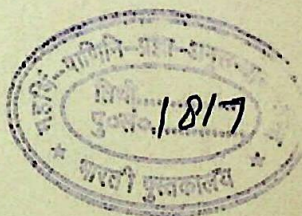
इस्लाम और आर्य समाज

★

लेखक

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

★

प्रकाशक

ट्रैक्ट विभाग

आर्य समाज चौक, इलाहाबाद—३

प्रथम बार] १९६७ [मूल्य २·००

विषय-सूची

प्राक्कथन

आजकल प्रायः आर्य समाज और इस्लाम एक दूसरे के विरोधी और शत्रु समझे जाते हैं। हर मुसलमान की यह धारणा है कि आर्य समाज ने जन्म से इस्लाम का विरोध किया और उसकी उन्नति में बाधा डालता रहा है। हर आर्य समाजी समझता है कि इस्लाम भारतवर्ष को कुमार्ग पर ले जा रहा है और प्राचीन वैदिक संस्कृति की रक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि इस्लाम का यथासम्भव उन्मूलन किया जाये। वास्तविकता यह है कि साधारण स्तर के आर्य समाजियों की इस्लाम के मंतव्यों से अनभिज्ञता है और साधारण मुसलमानों को तो आर्य समाज के सिद्धान्तों का कुछ भी ज्ञान नहीं है। कुछ आर्य समाजी जो धार्मिक संतुलन से प्रेम रखते हैं, वह दूसरे धर्मों के सिद्धान्तों का अध्ययन भी अपनी शैली से करते रहते हैं। परन्तु मुसलमान लोग दूसरे धर्मों के सिद्धान्तों से सर्वथा अनभिज्ञ रहना चाहते हैं इसलिये कुभावनायें बढ़ती जाती हैं और असद् भावनाओं के बढ़ने से देश और जाति का वातावरण दूषित रहता है। हर एक हितैषी

का कर्तव्य है कि जातीय उन्नति में बाधा डालने वाली समस्याओं का समाधान निकालें। केवल सद्भावना या ऊपर की लीपा-पोती से तो काम नहीं चलता। जो कुछ समाधान कार्यरूप में परिणित करना है वह सत्यता के आधार पर होना चाहिये और ऐसा यत्न करना चाहिये कि किसी पक्ष के साथ अन्याय न हो।

जब दो दल परस्पर विरोधी हो जाते हैं तो दोनों को सर्वथा नष्ट कर देना सम्भव नहीं है और न एक दूसरे का नाश करने में सफल हो सकता है जब तक कि कोई बहुत बड़ी दैवी घटना न हो जाय। आर्य समाजी यह आशा नहीं कर सकते कि वह धरातल से मुसलमानों का अस्तित्व मिटा देंगे, न मुसलमान आर्य समाजियों के विषय में सोच सकते हैं। हाँ, यदि वे एक दूसरे के दृष्टिकोण को अच्छी तरह समझ लें तो एक ऐसी व्यवस्था उत्पन्न कर सकते हैं कि उनके अपने-अपने अधिकार भी सुरक्षित रहें और दूसरे को शिकायत भी न रहे। समस्त सभ्य जातियों की व्यवस्था का यही मार्ग है। उसी पर संसार की भिन्न प्रकार की विषमताओं में समता संभव है। यदि ऐसा नहीं होता और दोनों पक्ष मर्यादा से बाहर हो जाते हैं तो इसका परिणाम दोनों के लिए बुरा होता है। दैव के विधान विचित्र हैं। वह मनुष्य की बुद्धि से परे है। हम इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि दैव किसी को क्षमा नहीं करता और न अकारण किसी के साथ पक्षपात करता है। दैव की न्याय-

तुला किंचित भी भूल नहीं करती।

हिन्दुस्तान में यों तो वर्तमान काल में बहुत सी समस्यायें हैं जिनका समाधान आवश्यक है। परन्तु हम यहाँ केवल आर्य समाज और इस्लाम का ही उल्लेख करेंगे और यदि गौणरूप से अन्य प्रश्न भी सामने आ गए तो उनका भी वर्णन किया जायगा।

हमारा यह विचार है कि आर्य समाज और इस्लाम के मंतव्यों में इतना विरोध नहीं है जितना समझा जाता है। यदि इस्लामी देशों के कुछ मुसलमान आर्य समाजी हो जाएँ तो शायद उनको आर्य समाज की शिक्षाओं के पालन करने में अधिक सुगमता हो उन हिन्दुओं की अपेक्षा जो मूर्तिपूजा और जाति भेद के कारण स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं का पूरा-पूरा पालन नहीं कर सकते।

आर्य समाज और इस्लाम का पारस्परिक विरोध इतना धार्मिक सिद्धान्तों के कारण नहीं है जितना राजनैतिक स्पर्द्धा के कारण है। आर्य समाज और इस्लाम दोनों का कार्य क्षेत्र सार्वभौमिक है। दोनों का दृष्टिकोण समान है। जिनको आर्य वैदिक धर्म में लाना चाहता है उनको इस्लाम मुसलमान बनाना चाहता है। प्रतिस्पर्द्धी वे लोग होते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य एक होता है। प्रतिस्पर्द्धियों की शत्रुता भी उद्देश्य की एकता पर आधारित होती है। यह है चित्र का उजला पक्ष। स्वार्थी और अज्ञानी स्पर्द्धी अपनी विरोधी प्रगतियों को सफल

बनाने के लिए अपने प्रिय से प्रिय हित और उद्देश्यों की भी उपेक्षा कर बैठते हैं जो उनकी स्पर्द्धा का मूल कारण है। यदि उद्दिष्ट स्थान एक है तो यात्रियों में विरोध नहीं होना चाहिये। बहुत से विरोध विचार विमर्श द्वारा दूर हो सकते हैं। सर्व साधारण को सत्य की खोज में सहायक होना इस पुस्तक का विशेष उद्देश्य है।

———

प्रथम अध्याय

आर्य समाज का आरम्भिक इतिहास

-०००००-

आर्य समाज एक नई सुसाइटी है। इसका जन्म १८७५ ई० में बम्बई में हुआ था। इसके प्रवर्त्तक हैं महर्षि दयानन्द सरस्वती। इस प्रकार इस सुसाइटी को स्थापित हुए ६० साल से कुछ अधिक हुए। इन ६० वर्षों में इसने भारतवर्ष में इतना जोर पकड़ा कि भारतवर्ष का कोई वर्तमान इतिहास इसकी प्रगति से विमुख नहीं रह सकता। जो लोग भारत के वर्तमान युग का अध्ययन करना चाहते हैं वे आर्य समाज के आन्दोलन, उसकी उन्नति और उसकी प्रगति पर अवश्य ही विचार करते हैं। इन ६० वर्षों में भारतवर्ष में लगभग ३००० आर्य समाज स्थापित हो गये जिनके नियम पूर्वक सभासदों की संख्या लगभग १००००० 'एक लाख' होगी। भारतवर्ष के बाहर दूसरे देशों में भी आर्य समाज स्थापित हैं जो यथासम्भव अपने उद्देश्यों की पूर्ति में प्रयत्नशील रहते हैं। परन्तु एक लाख की अल्प संख्या से आर्य समाज की शक्ति का अनुमान लगाना ठीक नहीं। इसका प्रभाव तो करोड़ों हिन्दुओं पर है जो यद्यपि आर्य समाज से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते तथापि

इसके उद्देश्यों से सहानुभूति रखते और उनका अनुसरण करते हैं। जब आर्य समाज स्थापित हुआ था तो साधारण हिन्दू जनता की ओर से उनका घोर विरोध हुआ था परंतु ज्यों-ज्यों आर्य समाज ने उत्साह से काम करना आरम्भ किया यह विरोध बहुत जल्दी उदासीनता में परिणत हो गया। इसके विरोधी शीघ्र ही ऐसा अनुभव करने लगे कि यद्यपि वे आर्य समाज के सभासद नहीं हो सकते तो भी उनको आर्य समाज की कार्य-प्रणाली स्वीकार कर लेनी चाहिये।

आर्य समाज का सबसे घोर विरोध सनातन धर्म सभाओं की ओर से हुआ। यह सनातन धर्म सभाएँ साधारण विरोधी हिन्दुओं की ओर से इसलिए स्थापित हुई थीं कि आर्य समाज की उन्नति में बाधा डाली जाए। आर्य समाज के मंतव्यों के विरुद्ध बहुत सा साहित्य उत्पन्न किया गया, आर्य समाज के विरुद्ध व्याख्याता तैयार किए गए जो स्थान-स्थान पर उत्सव करके आर्य समाज का खंडन करते थे। परन्तु ये उत्सव दस-पंद्रह वर्ष से अधिक नहीं चले और देश के उच्च श्रेणी के हिन्दू नेताओं ने आर्य समाज के विरोध को अपने कार्यक्रम से बहिष्कृत कर दिया और कई आवश्यक बातों में आर्य समाज के सहयोगी हो गए। आज सनातन धर्म सभाओं का ज़ोर कम हो गया है और कहीं आर्य समाज का विरोध नहीं किया जाता।

आर्य समाज के समान नई सुसाइटी का इतनी जल्दी भारतवर्ष भर में सर्व-प्रिय हो जाना एक विचारणीय बात है। इसका विशेष कारण यह है कि यद्यपि आर्य समाज एक नया आन्दोलन था तथापि यह एक अत्यन्त प्राचीन और अत्यन्त विशाल संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। इस संस्कृति को आर्य समाज की भाषा में वैदिक संस्कृति या आर्य संस्कृति कहते हैं। सर्व साधारण की भाषा में इसको हिन्दू धर्म या हिन्दुइज्म कहा जाता है। आर्य समाजियों का दावा है कि यह संस्कृति इतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन दुनिया है। इनकी गणना के अनुसार इस दुनिया की आयु १ अरब ५६ करोड़ वर्ष के लगभग होती है और वैदिक संस्कृति या आर्य संस्कृति की आयु भी इतनी ही है। यही संस्कृति शनैः-शनैः दुनिया भर में फैल गई और जितनी जातियाँ भूतल पर रहती हैं वह सब इसी आर्य जाति की संतान हैं और जितनी संस्कृति समय-समय पर संसार में प्रकट और नष्ट होती रहीं उन सब पर इसी प्राचीन संस्कृति का प्रभाव था या है। आर्य समाज के उद्देश्यों में एक विशेष उद्देश्य यह है कि इस प्राचीन संस्कृति को पुनर्जीवित किया जावे।

यह विचार साधारण लोगों की दृष्टि में शेख चिल्ली की सी कहानी होगी। बहुत से लोगों को तो यह विश्वास ही न होगा कि कोई जाति या कोई संस्कृति १ अरब ५६ करोड़ वर्ष पुरानी हो सकती है। उनके मस्तिष्क में इतने प्राचीन अतीत की

भावना ही नहीं हो सकती। परन्तु आजकल विज्ञान की सहायता से जो अन्वेषण हो रहे हैं उनसे आर्य समाज के मत की पुष्टि होती है। पृथ्वी के नीचे से प्राचीन स्मारक बाहर लाए जा रहे हैं। खनिज पदार्थों की आयु का अनुमान लगाया जा रहा है और ज्योतिष शास्त्र के द्वारा खोज की जा रही है कि दुनिया की आयु कितनी पुरानी है ?

यह तो हुआ आर्य समाज का केवल दावा, परन्तु आर्य समाज के उद्देश्य आर्य समाज के दस नियमों में वर्णित हैं जिनका उल्लेख कर देना यहाँ अनुचित न होगा।

आर्य समाज के नियम

आर्य समाज के मौलिक नियम दस हैं।

१—सब सत्य विद्या, और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है; उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है—अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

आर्य समाज का पहला और दूसरा नियम यह है कि हम परमात्मा को विद्याओं का आदि मूल, शक्तियों का भंडार और आनन्द का आदि स्रोत समझकर अपने जीवन को उसकी आज्ञाओं के अनुसार व्यतीत करें। हम ईश्वर-ईश्वर, खुदा-खुदा, भगवान-भगवान तो रोज चिल्लाते रहते हैं, खुदा की कसम करीब-करीब हर जुबान पर रहती है परन्तु हम यह नहीं जानते कि ईश्वर क्या है ? कैसा है ? और कहाँ है ? और क्या चाहता है ? आर्य समाज के दूसरे नियम में ईश्वर को सच्चिदानन्द बताया है अर्थात् ईश्वर सत् है अर्थात् वह अपने अस्तित्व के लिए किसी का सहारा नहीं लेता। वह चित् है यानी चेतन है। इसका ज्ञान सीखा हुआ या अन्य साधनों से प्राप्त किया हुआ

नहीं है। इसको किसी शिक्षक की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान उसका स्वाभाविक गुण है। वह सर्वज्ञ है। वह आनन्द है अर्थात् उसमें कभी किसी दशा में भी दुख का लवलेश नहीं होता। इसलिए जो लोग ऐसे ईश्वर का आश्रय लेते हैं वह भी सच्चिदानन्द परमात्मा के समान कष्टों से छूट कर सच्चे आनन्द की प्राप्ति कर लेते हैं। इस नियम में यह भी वर्णन किया गया है कि कोई समय ऐसा नहीं था जब ईश्वर न था। कोई समय ऐसा न होगा जब ईश्वर न रहे। दुनिया के सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं अर्थात् उनकी अवस्था परिवर्तित होती रहती है परन्तु ईश्वर में किसी प्रकार की तबदीली नहीं होती। इसीलिए ईश्वर को निराकार या शरीर रहित कहा है। यदि ईश्वर के शरीर होता तो वह प्राकृतिक परिणामों से प्रभावित होता क्योंकि शरीर प्राकृतिक है और परिमित है। सब आकृतियाँ परिमित हैं वह व्यापक नहीं हो सकती। परमात्मा हर स्थान पर विद्यमान है क्योंकि वह निराकार है अमर और अत्यन्त सूक्ष्म है। उसमें किसी प्रकार की स्थूलता नहीं है। ईश्वर अवतार नहीं लेता अर्थात् प्राकृतिक शरीर के बन्धन से मुक्त है। वह न जन्म लेता है और न मरता है। जिन लोगों ने राम कृष्ण ईसा आदि को ईश्वर का अवतार मान रखा है, उन्होंने ईश्वर के गुणों को न समझ कर ही ऐसा किया है। इसीलिए वह ईश्वर के भिन्न-भिन्न आकार चित्र या मूर्तियाँ बनाकर पूजते हैं। आर्य समाज के सिद्धान्त के अनुसार

यह सर्वथा अनुचित है, केवल ईश्वर की ही पूजा करनी चाहिए उसको छोड़कर किसी दूसरे की नहीं।

तीसरे नियम में वेदों की पवित्रता बताई गई है। संसार के पुस्तकालय में वेद से पुरानी कोई पुस्तक नहीं है। वेदों में उन प्राकृतिक नियमों का वर्णन है जो कभी बदलते नहीं सदा एक से रहते हैं जैसे कि दो और दो सर्वदा चार होते हैं। वेदों में सृष्टि (कुदरत) के इन्हीं नियमों को धर्म कहा है। सनातन वस्तुतः उन्हीं अपरिवर्तनशील नियमों का नाम है। जो उसके विरुद्ध है वह असली सनातन धर्म नहीं। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा है कि जो नियम पुराना होते हुये भी सदा नया रहता है उसको सनातन धर्म कहते हैं। इसलिये आर्य समाज कहता है कि सब विद्वानों को वेदों का अध्ययन और वेदों का प्रचार करना चाहिये जिससे मनुष्यों ने भ्रांति से जो कल्पित सिद्धांत और मन्तव्य बना लिए हैं उनका निराकरण हो सके और हम ईश्वर और उसके नियमों को पहचान सकें।

शेष सात नियमों में मनुष्यों के कर्त्तव्य और विशेषकर आर्य समाज के सदस्यों के कर्त्तव्य वर्णित किए गए हैं। मनुष्यों के लिये सत्य से अधिक बहुमूल्य कोई चीज नहीं है। जो कुछ सत्य है वही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही सत्य है। जो मिथ्या है वही अविद्या है, इसलिये मनुष्यों को सदा सत्य की खोज करनी चाहिये। संसार के समस्त मनुष्य विद्वान् हो जायें तो बुराई न रहे और सब आनन्द से रहें।

यह नियम यद्यपि दुनिया भर के लोगों पर लागू होते हैं तथापि आर्य समाज के सदस्यों के लिए विशेषरूप से वल दिया गया है कि वह इसका पालन करें। क्योंकि आर्य समाज की संस्था बनाई ही इसलिये गई है कि वह दुनिया भर की भलाई को दृष्टि में रख के इन नियमों को फैलाने का यत्न करे। हर आर्य का कर्तव्य है कि संसार की भलाई के सामने अपने स्वार्थ और अपने लाभ का विचार छोड़ दे क्योंकि जैसे ईश्वर विना स्वार्थ के समस्त जगत की भलाई करता है इसी प्रकार से मनुष्य जो ईश्वर के इस गुण का अनुसरण करते हैं ईश्वर के प्यारे होते हैं। ईश्वर इनकी सहायता करता है। इसके विरुद्ध जो लोग मनुष्य की निर्वलताओं के प्रभाव में आकर स्वार्थ का प्रकाश करते हैं वे स्वयं अपने ह्रास के कारण होते हैं। परमात्मा ने संसार के विधान को कुछ इस प्रकार रचा है कि कोई भाग ऐसा नहीं है कि जिसका समष्टि से सम्बन्ध न हो। जैसे एक बड़ी मशीन का हर एक पुर्जा मशीन के चलाने के लिये है और इस पुर्जे का महत्व भी इतना ही है कि वह मशीन के जीवन को सुरक्षित रखते हुये स्वयं अपने को भी सुरक्षित रखे। इसी प्रकार अगर एक मनुष्य समझता है कि वह अपनी उन्नति के लिये दूसरों की उन्नति को पीछे फेंक दे तो कुदरत अवश्य उसको इस अपराध का दण्ड देगी। कोई स्वार्थी संसार में बढ़ नहीं सकता। कहा है कि मनुष्य एक दूसरे के अंग है अर्थात् हर मनुष्य दूसरे मनुष्य से सम्बद्ध है और

उसकी उन्नति दूसरों की उन्नति के आश्रित है। यह बात केवल मनुष्य जाति तक सीमित नहीं है संसार की सब चीजें एक दूसरे की अंग हैं। कुदरत एक बड़ी मशीन है। हम सब जड़ और चेतन उस मशीन के पुर्जे हैं। जो पुर्जा मशीन को सहयोग नहीं देता वह स्वयं नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जो जाति, जो देश स्वार्थ में फंसकर दूसरों की हित की बात नहीं सोचते वह कुदरत के नियमों का विरोध करते हैं और शीघ्र ही कुदरत उनको नष्ट कर देती है। ईश्वर ने यह दुनिया अपने लिये नहीं बनाई। उसने सूर्य को इसलिये नहीं बनाया कि उसे किसी चीज को देखने के लिये सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता हो।

यही दृष्टान्त आप दुनिया भर पर घटा लीजिये। ईश्वर सबका है और सब उसके हैं, इसलिये ईश्वर के भक्तों को चाहिए कि वह दल बन्दी की क्षुद्रता को छोड़कर सबके हित की कोशिश करें। वेद ने यही शिक्षा दी थी कि सब जीवों को मित्र की दृष्टि से देखो। वेद की यह शिक्षा सृष्टि के नियमों के सर्वथा अनुकूल है। इसीलिए हम वेद को ईश्वर का ज्ञान मानते हैं और आर्य समाज इन्हीं सार्वभौमिक नियमों के प्रचार और प्रसार के लिये बनाया गया जिससे मनुष्य से क्षुद्र विचार और क्षुद्र दृष्टि दूर हो और सब मिल कर दुनिया की उन्नति करते हुये यथार्थ रूप में ईश्वर के भक्त बन सकें। सत्य धर्म यही है, सत्य भक्ति भी यही है। जब तक हम ईश्वर के गुणों को

समझकर उन गुणों के अनुसरण करने का यत्न न करें हम ईश्वर भक्त कहलाने के अधिकारी नहीं। आर्य समाज के यह दस नियम संसार भर के मनुष्यों को निमंत्रण देते हैं कि इन पर विचार करें और सच्चे आर्य बनकर अपना और दूसरों का कल्याण करें।

———

द्वितीय अध्याय

इस्लाम का आरम्भ

इस्लाम धर्म को दुनिया में आए लगभग १४०० वर्ष बीत चुके हैं। इसके प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद साहब हैं जो २० अप्रैल ५७१ ई० में अरब के प्रसिद्ध नगर मक्के में उत्पन्न हुए थे। १६ अगस्त ६१० ई० को उन्होंने अपने को नबी और अल्लाह के रसूल (ईश्वर के दूत) होने का दावा किया। इस्लाम का आरम्भ उसी दिन से होता है। इस तरह आज २३ मई १९६६ ई० को इस्लाम की आयु १३५६ वर्ष होती है। चन्द्र गणना (कमरी हिसाब) से आजकल १३८५ हिजरी है।

जिस प्रकार आर्य समाज एक नई संस्था होते हुए भी एक अत्यन्त प्राचीन सार्वभौमिक संस्कृति की प्रतिनिधि है, अपने को उस वैदिक या आर्य संस्कृति का उत्तराधिकारी समझती है और उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है, उसी प्रकार इस्लाम का ऐसा दावा नहीं है। यद्यपि इस्लाम के विद्वान् इस्लाम धर्म के आदि स्रोत हज़रत आदम को स्वीकार करते हैं और वह इस बात के दावेदार हैं कि

दीने इस्लाम उतना ही पुराना है जितनी सृष्टि है। अर्थात् जब आदम पैदा हुए तभी ईश्वर का पहला इलहाम भी आया और वह इस्लाम दीन ही था परन्तु इस्लाम के दावे और आर्य समाज के दावे में भेद है। दीन इस्लाम ने पुराने सब इल्हामों को परित्यक्त (मनसूख)* कर दिया है। हज़रत ईसा की इंजील, हज़रत दाऊद की ज़बूर, हज़रत मूसा की तौरेत सब मन्सूख हो चुकी। उनका दूतत्व (नबूवत) भी समाप्त हो चुका। हज़रत मुहम्मद साहब आखिरी नबी हैं। कुरआन शरीफ आखरी खुदाई किताब है।

आर्य समाज का दावा है कि पुरानी आर्य या वैदिक संस्कृति से कुछ भी मन्सूख नहीं हुआ। ईश्वरीय नियमों में न्यूनता या आधिक्य नहीं होता। वह नियम सार्वभौमिक और नित्य होते हैं। जो गणित, जो शरीर शास्त्र, जो ज्योतिष, खगोल पहले था, अब भी है। त्रिभुज के दो भुज मिलकर तीसरे से बड़े होते हैं यह नियम अत्यन्त प्राचीन है और अत्यन्त अर्वाचीन, इसमें न न्यूनता हुई न क्षय। इसलिए वैदिक संस्कृति को लोग भूल तो सकते हैं, उसके विरुद्ध आचरण भी कर सकते हैं परन्तु ईश्वर की ओर से उसमें घटाव बढ़ाव नहीं होता। इसलिए आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने या आर्य समाज के भक्त सदस्यों ने कभी यह दावा नहीं किया कि वैदिक

---

* 'मन्सूख' शब्द से तात्पर्य यह है कि पुराने इल्हामों का चलन बन्द हो गया और उनका स्थान नये इल्हामों ने ले लिया।

ऋषि या दूसरे ऋषि वेदों की शिक्षा को मनसूख करते रहे (रद करते रहे)। इस्लाम का दावा इसके प्रतिकूल है। हजरत मुहम्मद साहब का पद ईसा-मूसा आदि सबसे उच्चतर है, इसलिए इस्लाम को यदि किसी सार्वभौमिक प्राचीन संस्कृति का वारिस भी माना जाए तो यह वेरासत अपने पूर्वजों के अनुकरण के लिए नहीं प्रत्युत उनके मान को कम करने के लिये प्रयोग में लाई गई और लाई जा रही है। इस्लाम की दृष्टि में प्राचीन पवित्र पुस्तकों का वही मान है जो किसी मनसूख कानून का होता है। इस्लाम उसकी रक्षा नहीं करता। उसका त्याग करता है। आर्य समाज पुराने ऋषियों की शिक्षा का अनुकरण करता है, उसको पुनर्जीवित करता है, उसकी रक्षा करता है और उसको शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षित करता है। यह भेद है आर्य समाज और इस्लाम के दृष्टिकोण में।

इस्लामी पुस्तकों में कहीं-कहीं बताया गया है कि ईश्वर की ओर से दूसरे देशों में भी रसूल भेजे गए थे परन्तु कुर्आन शरीफ में या हदीसों में दक्षिण पश्चिमी एशिया अर्थात् अरब, सीरिया के समीपस्थ स्थानों को छोड़कर दूसरे मुल्क या जातियों के नबियों का नाम तक नहीं मिलता। किसी वैदिक नबी का उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि हजरत मुहम्मद साहब को अन्य देशों के रसूलों का कोई पता नहीं था। उन्होंने अपने देश वासियों के समक्ष अपनी पैगम्बरी को पक्का करने

के लिये गौण रूप से यह बात भी कह दी कि अरब में मेरी पैगम्बरी खुदा का पहला काम नहीं है। वह दूसरी जातियों को भी रसूल भेजता रहा है। अगर ऐसा ही है तो दूसरे देशों को इस्लाम की आवश्यकता नहीं रहती।

हम इस बहस में पड़ना नहीं चाहते। हमारा आशय केवल इतना है कि इस्लाम ईसा की सातवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ और कुछ दिनों के जोर-शोर के बाद इस्लाम ने हिन्दुस्तान की ओर अपना मुँह किया।

तृतीय अध्याय

इस्लाम का हिन्दुस्तान में आगमन

हजरत मुहम्मद साहब ने इस्लाम का प्रचार ६१० ई० में आरम्भ किया और मुहम्मद साहब, और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके खलीफों ने १०० साल तक अरब के आस-पास और निकटवर्ती देशों में अपने दूत भेज कर उनमें इस्लाम फैलाया। इनकी ओर से दूसरे देशों के बादशाहों और निवासियों के पास एलची भेजे जाते थे। वे कहते थे कि अरब में ईश्वर की ओर से एक नया पैगम्बर आया है और वह नया इल्हाम भी लाया है। मुहम्मद उस पैगम्बर का नाम है और कुर्आन इल्हाम है। उसके आने पर पुराने सब इल्हाम मंसूख कर दिये गए और पुराने नबियों की रिसालत भी समाप्त हो गई। इस नए युग में नए शासन का अनुसरण करना चाहिये। या तो इस्लाम स्वीकार करो अन्यथा तुमसे युद्ध किया जायगा। उस समय अरब और उसके आसपास यहूदी, ईसाई, मजूसी और पारसी लोग थे। उन्होंने इस्लाम धर्म को सहज स्वीकार नहीं किया परन्तु युद्ध प्रिय अरब कबीलों से वह बाजी न ले सके और क्रमशः समस्त रूम, समस्त ईराक, समस्त ईरान

और समस्त युरोशलम का इस्राईली देश मुसल्मान हो गया। ७१० ई० में मुसल्मानों का पहिला आक्रमण मुहम्मद बिन कासिम के आधीन हुआ। इसको हम इस्लाम का भारत पर पहला आक्रमण कहते हैं।

इस शताब्दि में भारतवर्ष एक हरा भरा सम्पत्तिशाली और सुदृढ़ देश था परन्तु साथ ही इसकी उन्नति रुक चुकी थी। एक सीमा से अधिक उन्नत जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के आर्थिक और नैतिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, अभिमान, उपेक्षा, जोर पकड़ जाते हैं। 'हमारे समान कोई नहीं' भावना काम करने लगती है। ह्रास इसी प्रकार आरम्भ होता है। भारतवर्ष सुदृढ़ होते हुए भी ह्रासोन्मुख था।

इससे पूर्व भारतवर्ष अत्यन्त शक्तिशाली था। जब ७, ८ शताब्दियों पूर्व सिकन्दर ने हिन्दुस्तान की ओर अपना मुख किया था। उस समय महाराज चन्द्रगुप्त भारत के सम्राट थे। वे अत्यन्त बुद्धिमान्, वीर और सुशासक थे। चन्द्रगुप्त की धाक दूसरे देशों में भी थी। जब सिकंदर ने हिंदुस्तान में प्रवेश किया तो महाराजा पुरु ने उसका प्रबल सामना किया। शायद चन्द्रगुप्त की सरकार अपनी शक्ति से इतनी परितुष्ट थी और उसको अपने सीमा-प्रान्त के शासकों पर इतना विश्वास था कि महाराजा पुरु ने अकेले ही सिकन्दर का अवरोध किया और वह पराजित हो गया। परन्तु सिकन्दर ने इस विजय से ही तुष्टि की। वह राजा पुरु और उसकी सेना से इतना

भयभीत हो गया कि आगे बढ़ना अपने लिए लाभदायक नहीं समझा और वापिस चला गया। महाराजा पुरु की पराजय ने चन्द्रगुप्त की आखें खोल दीं, अतः जब सिकन्दर के पीछे सलूकस ने आक्रमण किया तो चन्द्रगुप्त की सेना ने उसको बुरी तरह हरा दिया। उसको अपनी लड़की चन्द्रगुप्त को देकर संधि करनी पड़ी। जो लोग समझते हैं कि भारतवर्ष की सेनायें सदा हार खाती रहीं यह बात सर्वथा अतथ्य है।

इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की संस्कृति इतनी रोचक, आकर्षक और उदात्त थी कि दूसरी जातियाँ यहाँ आकर इसी संस्कृति को स्वीकार कर लिया करती थीं। पड़ोसी देशों से लड़ाइयाँ तो निरन्तर होती रही हैं, विशेषकर भारतवर्ष की सम्पत्ति को देखकर सभी को लालच आता था और कभी-कभी विदेशी राजा भारतवर्ष के किसी विशेष भाग पर स्वत्व भी प्राप्त कर लेते थे जैसे शक वंशी महाराज शालिवाहन, परन्तु ये सब भारतवर्ष में आकर भारतीय रंग में रंग जाते थे। भारत के पंडित अपनी विद्या से, भारत के क्षत्रिय अपनी वीरता से, भारत के साधारण लोग अपने कला-कौशल से विदेश के लोगों पर इतना प्रभाव डालते थे कि उनका अस्तित्व प्रथक नहीं रह सकता था। भारतवर्ष के प्राचीन निवासी विदेशों से रोटी, बेटी, व्यापार, कला-कौशल इत्यादि में परस्पर सम्बन्ध रखते थे। उनके जलयान दूसरे देशों के समुद्रों में यात्रा करते थे। समुद्र पार करना धर्म के विरुद्ध नहीं समझा जाता था।

संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों में समुद्र-यात्राओं के विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

परन्तु जिन दिनों इस्लाम अरब में फैला उस समय भारतवर्ष की उन्नति के मार्ग अवरुद्ध हो चुके थे। अरब तो एक रेगिस्तानी और अर्द्धशिक्षित देश था, इसलिए यदि इस्लाम के आरम्भिक इतिहास में भारतवर्ष के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हिन्दुस्तान अरब से बहुत दूर था, परन्तु साथ ही यद्यपि उस शताब्दि में इतना निर्बल या अशिक्षित नहीं था तो भी मूर्तिपूजा और जन्म-परक जाति-भेद रूपी पुराणों की भ्रान्ति-पूर्ण शिक्षा से भारतवर्ष में निर्बलता आ गई थी। उस युग के भारत के लोगों ने यह चिन्ता नहीं की कि अरब के निकट देशों में क्या हो रहा है।

कई हजार वर्ष पहले हिन्दुस्तान के आर्यों ने ही ईरान में वैदिक संस्कृति का प्रचार किया था। पारसियों की संस्कृति में वेदों की शिक्षा का पर्याप्त अंश है। परन्तु जब मुसलमानों ने ईरान की ओर पग बढ़ाया उस समय भारतवर्ष के लोग सर्वथा असावधान थे। उन्होंने अरब के आक्रमणों पर कोई ध्यान नहीं दिया। उनको यह भी मालूम न था कि इस्लाम के आन्दोलन का अर्थ क्या है और उसका संसार पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? इसी प्रकार ईसाई धर्म का कुछ आरम्भ मद्रास आदि में हो चुका था। इस बीच में ईसाइयत का कुछ प्राबल्य भी था परन्तु हिन्दू जनता और हिन्दू नेता अनभिज्ञ और

असावधान थे। मुहम्मद-बिन-कासिम से पहले ६७८ ई० में कुछ अरबों ने बम्बई के एक स्थान थाने पर आक्रमण किया था और केलात को भी ले लिया था। परन्तु इन आक्रमणों का वह महत्व नहीं है जो मुहम्मद-बिन-कासिम के आक्रमण का है। मुहम्मद-बिन-कासिम ने जब सिन्धु पर आक्रमण किया तो वहाँ का राजा दाहिर बड़ा बलवान था परन्तु वह हार गया। मुसलमानों ने उसके देश पर स्वत्व जमा लिया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विजयी होने पर भी मुसलमान लोग समस्त देश को मुसलमान न बना सके। इसके विरुद्ध अफगानिस्तान और पश्चिमी देश तो मुसलमानों के आक्रमणों का शिकार होते ही बलात मुसलमान बना ही लिये गये।

यहाँ हम हिन्दुस्तान के निवासियों की शक्ति और निर्बलता का एक आश्चर्यजनक सम्मिश्रण देखते हैं जिसका समझना कठिन है।

इससे पहले युग में आर्य संस्कृति के भीतर दूसरों को ग्रहण करने की शक्ति थी। जीवित जातियों और मुर्दा जातियों में एक बड़ा भेद होता है जिसे आप खेत के दृष्टान्त से समझ सकते हैं। गाजर के खेत में जब तक गाजर में शक्ति है खेत के समस्त परमाणु गाजर का रूप धारण कर लेंगे। परन्तु यदि गाजर की शक्ति नष्ट हो जाय और उसे बैंगन के खेत में डाल दो तो वह गाजर बैंगन के रूप में बदल जायगी। जब आर्य लोगों में जीवन था तो अन्य जातियों के लोग इनमें मिल जाते थे। जैसे कि हूँण

और शक जातियाँ मिल गईं। परन्तु जिस युग में मुसलमान आये हिन्दुस्तान में बीसियों प्रकार की जातियाँ और उप-जातियाँ बन चुकी थीं जो आपस में भी मिलती न थीं। औरों को क्या मिलाती? इसलिये जब मुसलमान लोग हिन्दुस्तान में आयें तो वह मिल न सके और उनका पृथकत्व जातीय वैमनस्य का कारण हो गया। दूसरी बात यह थी कि हूँण और शक लोग केवल देश को लेने के लिये आये थे। वे इस्लाम धर्म जैसे किसी आन्दोलन को लेकर नहीं आये थे, इसलिये उन्होंने केवल देश को लेने तक ही अपने को सीमित रखा और इस देश की संस्कृति को अपना कर इसके निवासी बन गये। मुसलमानों का उद्देश्य था इस्लाम का प्रचार और प्राचीन सभ्यता का नाश, इसलिये उन्होंने न केवल राज्यों को नष्ट किया वरन् मन्दिरों को तोड़ा, मस्जिदें बनाईं और नई संस्कृति की जड़ डाली।

जब महमूद गजनवी और मोहम्मद गौरी ने आक्रमण किये उस समय भी हिन्दू संस्कृति के संरक्षकों की समझ में यह नहीं आया कि इस्लाम के आगमन का वास्तविक अर्थ क्या है। वे विजेताओं के आक्रमणों और शासनों के परिवर्तनों की तुलना संस्कृति के परिवर्तनों से नहीं कर सके। जब कन्नौज के महाराज जयचन्द ने दिल्ली के महाराज पृथ्वीराज के विरुद्ध मुहम्मद गोरी की सहायता का स्वागत किया उस समय जयचन्द और उसके साथियों को यह ध्यान नहीं हुआ कि इस्लाम

कोई धार्मिक या सांस्कृतिक उथल-पुथल है जिसका साथ देना एक प्राचीन पूर्वजों की संस्कृति को विनष्ट करना है। जयचन्द ने तो केवल यह समझा था कि वह एक राजा के विरुद्ध दूसरे राजा से सहायता माँग रहा है। जयचन्द ने मुहम्मद गोरी को बुलाया था, इस्लामी संस्कृति को नहीं। वह राजों के आक्रमण और संस्कृति के आक्रमण के भेदों को नहीं समझ सका और न यह पृथ्वीराज को सूझा। मुसलमानों ने जब दिल्ली ले ली और अपने शासन का विस्तार किया उस समय तक हिन्दुओं ने संस्कृति के संरक्षण निमित्त कोई आन्दोलन उठाया हो हमको दिखाई नहीं देता। हिन्दू राजा मुसलमान राजों से बड़ी वीरता के साथ लड़ते रहे परन्तु देश के नाम पर, संस्कृति के नाम पर नहीं। हिन्दुओं में लड़ने की शक्ति थी। राजपूताने की लड़ाइयाँ योरप के इतिहासकारों को ग्रीस (यूनानी) की लड़ाइयों से अधिक आश्चर्यजनक और गौरवमय प्रतीत होती हैं, परन्तु इनमें संस्कृति के संरक्षण का कोई चिन्ह नहीं मिलता।

इसलिये यदि मुसलमान हिन्दुओं में घुलमिल न सके तो इसका कारण यह था कि वह अपनी संस्कृति को फैलाने और हिन्दू संस्कृति को मिटाने के उद्देश्य से आये थे। उन्होंने इस भावना को निरन्तर अपनी दृष्टि में रखा। हारे तब भी, जीते तब भी। हिन्दुओं में ग्रहण करने की शक्ति समाप्त हो चुकी थी और संस्कृति को बचाने की ओर उनका ध्यान न था। जो

अवरोध पुरु ने सिकन्दर का किया, या दाहिर ने मुहम्मद-बिन-कासिम का किया, उसमें संस्कृति के संरक्षण का कोई भाव नहीं था। सिकन्दर और मुहम्मद-बिन-कासिम को देश का शत्रु समझा गया—संस्कृति का नहीं। इसलिये इनके आक्रमणों के राजनैतिक प्रभावों को दूर करने की कोशिश तो समय-समय पर होती रही परन्तु नई संस्कृति के विषैले प्रभाव को दूर करने की कोई कोशिश नहीं हुई।

इन १००० वर्षों में हम हिन्दू तथा मुसलमानों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्धों का लगभग पूरा इतिहास ज्ञात कर सकते हैं। कभी शत्रुता बढ़ गई; मुस्लमानों के मुंहल्ले अलग बन गये, और हिन्दुओं के अलग, खाने पीने में परहेज किया गया हिन्दुओं ने पराजित होकर दूर भागने की कोशिश की और मुसलमानों ने विजयी होकर अपने प्रभाव के क्षेत्रों को विस्तृत करने की कोशिश की, हिन्दुओं ने मन्दिरों में मुस्लमानों के प्रवेश का विरोध किया, मुसलमानों ने हिन्दू मन्दिरों को तोड़ी कर उनके कुछ भागों में बलात मस्जिदें बनाईं, मथुरा, काशी अयोध्या इत्यादि में मस्जिदों के ये भवन यथापूर्व पाये जाते हैं। दिल्ली के प्रायः सभी मुहल्लों में कम से कम एक मस्जिद तो अवश्य है। सम्भव यह है कि ये समझौता हो गया हो। सारांश यह है कि यह आपाधापी चलती रही। अकबर आदि उदार बादशाहों ने हिंदुओं से विवाह का नया सम्बंध उत्पन्न किया। यह एक अच्छी बात थी यदि एक ओर से न होती—जैसे

राजा मानसिंह ने अपनी वहन का विवाह अकबर के साथ कर दिया, इसी तरह राजपूत राजे भी मुसलमान राजकुमारियों से भी विवाह करते तो हिंदू मुसलमानों में अधिक मेल हो गया होता। पहले भी सैल्यूकस की लड़की का विवाह महाराज चंद्र गुप्त से हो गया और गांधारी कंधार के राजा की लड़की थी। अगर उदयपुर का कोई राजकुमार किसी मुगल राजकुमारी से विवाह कर लेता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होती। परन्तु यह जातीय दुर्भाग्य था कि हिन्दुओं ने अपना संरक्षण करने में संस्कृति की ओर ध्यान नहीं दिया।

———

चतुर्थ अध्याय

मुसलमानों की सफलता

हिन्दुओं की असावधानी का मुसलमानों ने लाभ उठाया। उनके हाथ में बहुत से भाग आगए। कुछ मुसलमान भी बने—कुछ सांसारिक प्रलोभनों के आकर्षण से और कुछ जबरदस्ती। परन्तु हिन्दुस्तान में मुसलमानों को वह सफलता प्राप्त नहीं हुई जो ईराक, ईरान, अफगानिस्तान आदि देशों में हुई थी। सौ साल के भीतर वे सब देश मुसल्मान हो गये थे। शिया हों या सुन्नी या किसी और सम्प्रदाय के परन्तु कुर्आन और मुहम्मद वह सब की मान्यताओं का मुख्य अंग था। हिन्दुस्तान में मन्दिरों के टूटने पर भी इस्लाम नहीं फैला। मूर्तियों के आभूषणों की लूट पर भी इस्लाम नहीं फैला। एक एक इंच पर लड़ाई हुई। हिन्दू गिर कर भी डटे रहे चिपटे रहे—

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
दुश्मन रहा है सदियों से आसमाँ हमारा॥

क्या हिन्दुस्तान में मिथ्यावाद न था? क्या हिन्दुस्तान

मूर्ति पूजक न था ? क्या इस्लाम ने सुधार की शिक्षा नहीं दी ? क्या ईरान, अफगानिस्तान आदि देशों में हिन्दुस्तान से अधिक मिथ्यावाद था ? क्या ये लोग शक्ति में कम थे ? तो फिर इस्लाम भारत में इतनी तेजी से क्यों न फैला ? एक सहस्र वर्ष के सतत प्रतत्न के बाद यह प्रश्न और भी अधिक विचारणीय है।

संक्षेप से हम यह कह सकते हैं कि भारत का वातावरण इस्लाम और ईसाइयत जैसे वाह्य और विदेशी मतों के अनुकूल नहीं है। ईसाइयत के दो हजार साल हो गए, इस्लाम को एक हज़ार, बहुत से दैवी और मानुषी विप्लव हुए, वड़े-वड़े युद्ध हुए, वड़े-वड़े नैतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए, जितने आगे वढ़े उतने ही पीछे लौटना पड़ा। हिन्दुस्तान मूर्तिपूजक भी था और मिथ्यावादी भी। यह दोनों दोष हिन्दुस्तान के विनाश के कारण हुए। यदि मूर्ति पूजक न होता तो सोमनाथ के मन्दिर के पुजारी महमूद गज़नवी की तलवार का सामना करते और उसको सिकन्दर की भाँति आगे न बढ़ने देते। मूर्तिपूजा का सबसे वड़ा दोष यह है कि मूर्ति एक तो होती नहीं। काल्पनिक ईश्वर की काल्पनिक आकृतियाँ। फिर भी आकृतियाँ अलग-अलग होती हैं। उपास्य देवों के भिन्न २ होने से उपास्यों में भी भिन्नता आ जाती है। हिन्दू एक नहीं था। विष्णु का पुजारी वैष्णव था; शिव का पुजारी शैव। एक दूसरे के शत्रु थे। सोमनाथ शिव का मन्दिर था। मथुरा वाले

वैष्णव थे। मथुरा वाले सोमनाथ वाले की मदद कैसे करते और सोमनाथ वाले मथुरा वालों की क्या मदद करते? जब सोमनाथ की दुर्घटना हुई तो मथुरा वालों ने अपने शत्रु शैवों की हार पर घी के दिए जलाए और जब मथुरा की बारी आई तो सोमनाथ वालों को कुछ तो संतोष अवश्य हुआ।

भ्रान्तिवादों ने भी हानि पहुँचाने में कोई कसर नहीं रक्खी। जब बाबर और राणा साँगा का युद्ध हुआ तो राणा साँगा की इतनी धाक थी कि बाबर का दिल भी धड़कता था। परन्तु राणा साँगा के ज्योतिषियों ने धोखा दिया। उन्होंने कहा कि ग्रह अनुकूल नहीं हैं। ग्रह विरुद्ध हैं। इसलिये जब तक यह ग्रह अनुकूल न हों राणा साँगा को रणक्षेत्र में नहीं जाना चाहिये। बाबर ने जब अपने गुप्तचरों से यह बात सुनी तो उसने उसका लाभ उठाया। उसने कहा कि यदि ग्रह राणा साँगा के प्रतिकूल हैं तो मेरे अनुकूल होंगे। उसने तुरन्त आक्रमण कर दिया। ज्योतिषियों की भविष्य वाणी ने राणा के वीर सेना-पतियों के दिल तोड़ दिये थे। राणा मारा गया। मुसलमान जीत गये।

परन्तु हिन्दुओं की मूर्तिपूजा और मिथ्यावाद की पृष्ठ-भूमि में एक अत्यंत प्राचीन और सूक्ष्म दर्शन है। जहाँ साधा-रण हिन्दू मूर्तिपूजक भी है, ग्रहपूजक भी है, वहाँ साथ-साथ दर्शनों की सूक्ष्मतम शिक्षा के भी पंडित हैं जो हिंदू संस्कृति को मरने नहीं देते। जहाँ पुराण हैं वहाँ उपनिषदें भी हैं। जहाँ

गँदला पानी है वहाँ फिटकरी भी है। जहाँ-जहाँ छूतछात और बीसियों जातियाँ और उपजातियाँ भी हैं, साधु संन्यासी भी हैं। समय-समय पर संत और साधु क्षेत्र में आते रहे और मूर्तिपूजा के विरुद्ध बोलते रहे। गुरुनानक, कबीर सब ने मूर्ति-पूजा का खंडन किया। ये तो हिंदुओं की शक्ति की बात थी।

अब मुसलमानों की निर्बलता की बात सुनिये। मुसलमान मूर्तिभंजक थे। उन्होंने मूर्तियों को तोड़ा परंतु इस्लाम ने मूर्ति-पूजा का खंडन नहीं किया। इनके दावे विडम्बनाओं से भरे पड़े हैं। ये बात-बात पर अल्लाह की दुहाई देते हैं।

परन्तु यह नहीं समझते एक ईश्वरवाद क्या है और एक ईश्वरवाद अनेक ईश्वरवाद से कैसे बचाया जा सकता है। केवल मूर्तियों को तोड़ने से ही तो कोई एक ईश्वर का उपासक नहीं बन सकता। उपनिषदों में मूर्तिपूजा का विधान नहीं है। परंतु साथ ही ईश्वर क्या है? कहाँ हैं? कैसा है? और कैसे मिल सकता है? इसकी विस्तृत व्याख्या है। मूर्तियों से किसी की शत्रुता नहीं। मूर्तियाँ जड़ हैं। मूर्तियों को तोड़ना, मूर्तियों को शत्रु समझना, यह भी मूर्तिपूजा है।

मोहम्मद साहब और मुसलमानों का एक-ईश्वरवाद बुद्धि की कसौटी पर ठीक नहीं बैठता। मुसलमानों ने समझा कि मूर्ति का तोड़ना ही एक-ईश्वर की उपासना है। परंतु उन्होंने मूर्तिपूजकों के सब पूजा के तरीके अपना लिए हैं।

स्वामी दयानन्द ने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर मूर्ति-

पूजा का विरोध किया। शिव की मूर्ति पर चूहे को चढ़ते देखकर उनको यह शंका हुई कि मूर्तिपूजा बुरी बात है। परंतु उन्होंने जल्दी में कोई पग नहीं उठाया। कई वर्ष खोज में व्यतीत कर दिये और जब स्वामी विरजानन्द ने उनको समझा दिया कि वेद और उपनिषदों में मूर्तिपूजा नहीं, तब उन्होंने मूर्तिपूजा का खंडन किया। मूर्तियों का नहीं किया। मूर्तियों से कोई वैर न था। मूर्तिपूजा के स्थान पर उन्होंने ईश्वर के ध्यान करने की वैदिक विधि का उपदेश दिया। संध्या का विधान बताया। मुहम्मद साहब के पास ऐसा कोई अनुभव सिद्ध नुस्खा न था। उन्होंने अपनी युवावस्था के प्रारम्भ में संगअसवद (काला पत्थर) को अपनी जगह पर स्थापित करने में सहायता की थी। मुसलमान लोग इस कथा का बड़े गर्व से वर्णन करते हैं कि जब काबे की मरम्मत की गई और संगअसवद को लोग उसके स्थान पर स्थापित करने लगे तो अरब कबीलों में झगड़ा हो गया कि यह अधिकार किसको दिया जाय। मुहम्मद साहब ने संगअवसद (काले पत्थर) एक चादर पर रक्खा और सब कबीलों के प्रतिनिधियों से कहा कि आप लोग सब अपना अपना हाथ लगा दें। उस समय मुहम्मद साहब के दिल में संगअसवद का ऐसा ही मान था जैसा आजकल के मुसलमानों का है। और पत्थर होते हुये भी उसको पवित्र समझा जाता है। हाजी लोग उसको चूमते हैं। दुनिया भर के मूर्तिपूजक अपने-अपने सम्प्रदाय की मूर्तियों का सम्मान करते हैं पर दूसरे

सम्प्रदाय की मूर्तियों का आदर नहीं करते, इसी प्रकार मुसलमानों को हिंदुओं की मूर्तियों से वैर है पर संग असवद (काले पत्थर) से नहीं। मुहम्मद साहब ने उसका चुम्बन किया था और अपने अनुयायियों के लिये दायभाग में इस प्रथा को छोड़ गये।

अब नमाज की विधि पर दृष्टि डालिये। मूर्तिपूजक लोग मूर्ति को सामने रखकर उसके समक्ष साष्टांग दंडवत करते हैं। मुसलमान भी यही करते हैं। मुसलमानों के सिजदें और मूर्तिपूजकों के दंडवत में कोई अन्तर नहीं। केवल यही भेद है कि मूर्ति सामने से हटा दी है। यदि मुसलमान मानते हैं कि उनके सिर के भीतर भी ईश्वर है और कावे में भी ईश्वर है और उनके सामने की हर वस्तु में ईश्वर है तो फिर सिर किसको झुकाते हैं।

तू ही है मूर्त्ती में भी, तू ही फूलों में भी व्यापक है,
भला भगवान को भगवान पर कैसे चढ़ाऊँ मैं ?

सर झुकाने की रस्म वृद्ध पुरुषों के सत्कार से चली है। हम अपने माता-पिता, राजा, गुरु के समक्ष झुककर नमस्ते करते हैं। जब यह सत्कार का विधान मरे हुये बुजर्गों पर भी लागू होने लगा तो मानव पूजा का आरम्भ हुआ। बुजुर्गों को ईश्वर का अवतार, ईश्वर का सम्बन्धी या ईश्वर का दूत (पैगम्बर) माना जाने लगा। राम ईश्वर थे; ईसा ईश्वर के पुत्र थे, मुहम्मद साहब ईश्वर के रसूल थे। यह सब मनुष्य पूजा

थी। जीवित बड़ों की पूजा तो अर्चना का एक अंग है परन्तु मरने के पश्चात् उनकी समाधि, उनकी क़ब्र या उनकी किसी वस्तु की पूजा अधर्म है। परन्तु मुसलमान इन सब को जायज़ समझते हैं। मदीने में हज़रत की क़ब्र है। सारे दुनिया के मुसलमानों की कमाई इन क़ब्रों के निर्माण में खर्च होती है। हर देश में भी क़ब्रे हैं। उनकी यात्रायें होती हैं। हिन्दुस्तान में अमरोहा, बहराइच, अजमेर, इत्यादि स्थानों में सैकड़ों क़ब्रें हैं। इनको हिन्दू भी तथा मुसलमान भी पूजते हैं। इनका चढ़ावा मुसलमान खाते हैं। इसको अधर्म नहीं समझते हैं और न इस्लाम के प्रचारक इन क़ब्रों को जो मूर्तियाँ के स्थानापन्न हैं तोड़ने की शिक्षा देते हैं। इसीलिये स्वामी दयानन्द ने तो मृत्यु के पूर्व यह उपदेश दिया था कि उनके शव को जला कर उनके फूलों पर कोई समाधि न बनाई जाय जिससे क़ब्रों की पूजा न चल पड़े। मुसलमान विद्वानों की बुत-परस्ती का यह हाल है कि जैसे बौद्ध लोग महात्मा बुद्ध की अस्थियों की प्रतिष्ठा करते हैं, इसी तरह मुसलमानों के विद्वान् अपने बुजुर्गों की हड्डियों की इज्जत करते हैं। कश्मीर में हजरत का एक बाल है जिसे 'मुये मुबारक' अर्थात् पवित्र बाल, कहते हैं। कोई नहीं पूछता कि मुहम्मद साहब का बाल कहाँ से आया और उसकी पूजा कैसे आरंभ हुई।

हजरत मुहम्मद साहब का कल्में (मुसलमानों का मुख्य मंत्र) में एक विशेष स्थान है। बिना रसूल की पूजा के ईश्वर

की पूजा हो ही नहीं सकती। वेदों की गायत्री में किसी ऋषि की पूजा का प्रश्न नहीं है। किसी ऋषि ने अपनी पूजा की शिक्षा नहीं दी।

यही कारण था कि उच्च श्रेणी के पण्डितों के लिये इस्लामी धर्म में कोई भी आकर्षण नहीं हुआ। उन्होंने दार्शनिक उपेक्षा तो अवश्य की। वे मूर्ति पूजा को अशिक्षित लोगों के जी बहलाव का साधन समझते थें। उसमें प्रायः हस्ताक्षेप भी नहीं करते थे। इसलाम को भी उन्होंने इसी कोटि में रक्खा था। जो लोग मुसलमान हुये या तो वे क्षत्रियं घराने के थें जो युद्ध में पराजित हो गये थें। ये नाम मात्र मुसलमान हो गये और इस शताब्दी में भी नौमुस्लिम (नये मुसलमान) के रूप में पाये जाते हैं। ये नये मुसलमान तो नहीं हैं। इन घरानों को मुसलमान हुये कई शताब्दियाँ बीत गईं परन्तु चूँकि इनको इसलाम का दीन पसन्द था और हिन्दू धर्म से घृणा भी न थी और हिन्दू धर्म में लौटना उनके लिये कठिन था, इसलिये उन्होंने अपने को नौमुस्लिम कहलाना, हिन्दू-नाम रखना और हिन्दू प्रथाओं का अनुसरण करना ही गनीमत समझा। कुछ नीच जातियाँ मुसलमान हो गईं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं। शासन का कुछ तो प्रभाव होता ही है। अँग्रेजी राज्य में कई नीच जातियाँ ईसाई हो गईं।

कुछ हिन्दू लोगों ने मुसलमानों की कब्र को पूजा, आज भी लाखों हिन्दू गाजी मियाँ की पूजा करते हैं। इसको आप मुसल-

मानों की सफलता कहेंगे या असफलता। जो हिन्दू हर प्रकार के मूर्ति पूजन को उचित समझता है और "जितने कंकड़ उतने शंकर" पर विश्वास करता है। उसको किसी कब्र के पूजने में क्या संकोच हो सकता है। पुराणों के धर्म का यह है लच-लचीलापन कि बुद्ध को ईश्वर का अवतार समझा जाता है। सनातन धर्म महामंडल के प्रसिद्ध संन्यासी दयानन्द B. A. ने आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द को भी ईश्वर का अवतार कहा है। यदि आर्य समाज इस सम्मान को स्वीकार कर लेता तो स्वामी दयानन्द की मूर्ति भी मन्दिरों में पूजी जाने लगती। परन्तु इससे आर्य समाज की जड़ ही कट जाती और स्वामी दयानन्द की तपस्या निष्फल हो जाती। इस प्रकार गाजी मियाँ की पूजा को अपना कर हिन्दू जन साधारण ने इस्लाम दीन की जड़ों को काट दिया। यह इस्लामी धर्म की बहुत बड़ी असफलता है। सत्य चला गया झूठ आ गया।

———

पाँचवाँ अध्याय

आर्य समाज का आगमन

जब सन् १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द जी ने आर्य समाज स्थापित की तो इसकी पृष्ठ भूमि में बीस वर्ष का अनुभव और अध्ययन था। स्वामी दयानन्द बालक न थें। ५० वर्ष के अनुभवी व्यक्ति थें और उन ५० वर्षों का अधिकतर भाग विद्या और अनुभव के प्राप्त करने में बीता था। उन्होंने भारतवर्ष भर की यात्रा की, हर संस्था के नेताओं से परिचय प्राप्त किया, हर एक से अपनी बात कही और हर एक की बात सुनी। उनकी वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति में अपार श्रद्धा थी। वह जानते थें कि वैदिक संस्कृति कितनी प्राचीन है और यह प्राचीनताउसकी श्रेष्ठता का प्रमाण है। यदि कोई मकान सैकड़ों वर्ष के झंझावात, आँधी और तूफानों के होने पर भी खड़ा रहे तो उसकी सुदृढ़ता में कोई संशय नहीं करता। उसकी प्राचीनता ही उसकी शक्ति और सुदृढ़ता का प्रमाण होती है। केवल वही संस्थायें प्राचीन या दीर्घ जीवी होती हैं जो प्राकृतिक उथल-पुथल का सामना कर सकती हैं। वैदिक संस्कृति से पुरानी कोई संस्कृति नहीं है। पश्चिमी एशिया में मुसाई, ईसाई, और

मौहम्मदी संस्कृतियों से पूर्व बहुत सी संस्कृतियों ने जन्म लिया फूली फलीं, विलीन हो गईं। ईसाई और इस्लामी संस्कृतियाँ तो अभी अधिक पुरानी नहीं हुईं पर दुनिया उनसे तंग आ गई है। स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति की उत्तमतायें तथा बुराइयों को भी देखा। बुराइयों के प्रति घृणा और अप्रसन्नता का प्रकाश किया। उनके सुधार का यत्न भी किया। उन्होंने बालपन के विवाहों को देखा। वृद्ध पतियों के साथ दूध पीती हुई लड़कियों के विवाह भी देखे। बाल विधवाओं के क्रन्दन पर भी अश्रु बहाये। हिन्दू की जन्म परक जातियों और उप-जातियों के ईर्षा और द्वेष का भी अध्ययन किया। उन्होंने वैदिक संस्कृति की अर्थहीन प्रथाओं को भी देखा और इस्लामी और ईसाई प्रचारकों की ओर से जो सुधार सम्बन्धी उपाय प्रयोग में लाये गये थें उनका ध्यानपर्वक अध्ययन किया। उन्होंने ब्रह्म समाज, थियोसौफिकल सोसाइटी के स्वतंत्र विचार वाले नेताओं से भी विचार विनिमय किया, परन्तु इस सब पक्ष-पात रहित और स्वतन्त्र प्रवृतियों के होते हुये भी उनके हृदय के भीतर से एक ध्वनि आई कि किसी प्राचीन सुदृढ़ भवन के ऊपरी प्लास्टर को उखड़ा-पुखड़ा देख कर किसी चमकीले कपड़े के बने शामियाने को उससे अच्छा नहीं समझना चाहिये। जिस शानदार शामियाने ने एक वर्षा ऋतु का भी सामना नहीं किया, उसकी एक भवन से क्या तुलना की जा सकती है। चाहे वह टूटा फूटा ही क्यों न हो। टूटे फूटे भवनों

के भग्नावशेषों की चित्र विचित्र आकृति को देखकर प्राचीन महापुरुषों का स्मरण हो जाता है। वैदिक संस्कृति के समक्ष आजकल की नवीन संस्कृतियाँ कोई अधिक महत्व नहीं रखतीं।

वैदिक संस्कृति की टूटी फूटी अवस्था की पृष्ठ पर लाखों वर्षों की ऋषियों की तपस्या विद्यमान है। संस्कृत भाषा की अक्षर परम्परा, आकृति और अङ्क प्राचीन आर्यों के भाषा विज्ञान सम्बन्धी महत्व का सूचक है। वे न केवल शब्द और उनके प्रयोग को ही समझते थें, अपितु मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान के प्राकृतिक नियमों से भी अभिज्ञ थें। आप व्याकरण की आरंभिक परिभाषाओं पर ध्यान दें तो आप को आश्चर्य हो जायेगा। हम गौण रीति से केवल वर्णमाला का कुछ वर्णन करते हैं।

———

छठवाँ अध्याय

संस्कृत की वर्णमाला तथा संस्कृत साहित्य की विशेषतायें

भाषा शब्दों का क्रमानुगत समूह है। भाषा दो प्रकार की है—पढ़ना व लिखना। जब लिखने की प्रथा न थी तब पढ़ने की प्रथा थी। लेखन-विद्या पठन-विद्या के पीछे हुई होगी। दोनों प्रकार की भाषा का आधार शब्द है और शब्द वर्णों से मिलकर बनते हैं। वर्णमाला के ज्ञान को शिक्षा कहते हैं।

अंग्रेजी के प्रथम अक्षर हैं A. B. C. D. अरबी में इनको अलिफ, बे, जीम, दाल अबजद कहते हैं। इन भाषाओं में यूनानी के भाषा की एल्फा, बीटा, गामा, डेल्टा ने अनुसृति की है।

मनुष्य के मुख की बनावट पर ध्यान दीजिये। बच्चा पहले व्यंजन बोलता है या स्वर। बच्चे को Alfa या अलिफ कहने में कितनी असुविधा होगी। फकार को बोलना तो सुगम नहीं है। संस्कृत की वर्णमाला की तुलना कीजिये। अकार

सबसे प्रथम शब्द है। इसको प्रत्येक बच्चा बोलता है। मुख खोलते ही अनायास निकलता है। आजकल की सुशिक्षित जातियाँ अपनी वर्णमाला को क्यों नहीं बदलतीं। संस्कृत भाषा की पठन और लेखनशैली पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इस वैज्ञानिक शैली से संसार भर की भाषाओं के सीखने में सुगमता होगी। और इसका प्रयोग न करने से मनुष्य जाति का समय व्यर्थ जा रहा है।

हम वर्णों को मुख से बोलते हैं। बोलने के समय जीभ का संसर्ग मुख के भिन्न-भिन्न स्थानों से होता है। संस्कृत के वर्णों के उच्चारण के लिये मुख के पाँच स्थान नियत किये गये हैं। कंठ, तालु, मूर्धा, दाँत और ओष्ठ, कंठ प्रथम स्थान है। अ का उच्चारण कंठ से होता है। आगे बढ़िये तालु आयेगा। तालु से इ का उच्चारण होता है। ऋ और लृ दो और स्वर हैं जो मूर्धा और दाँत से बोले जाते हैं। अन्य भाषा वालों ने इनको स्वरों से अलग कर दिया है। व्यंजन इन पाँच स्थानों के अनुसार ५ भागों में बाँट दिये गये हैं। कंठ से क वर्ग, तालू से च वर्ग, मूर्धा से ट वर्ग, दाँत से त वर्ग, ओष्ठ से प वर्ग। इस प्रकार २५ व्यंजन हुये। य, र, ल, व, वस्तुतः इ ऊ ऋ लृ स्वरों के वे रूप हैं जो स्वरों से चलकर व्यंजनों तक पहुँचते-पहुँचते स्वभावतः स्वयं बन जाते हैं। अरबी वालों ने इनको अखवात या बहनों (भगिनियों) के नाम से पुकारा है। हर भाषा के विद्वानों ने संस्कृत वर्ण माला का अनुकरण किया

है। यद्यपि ये अनुकरण मूल के सर्वथा अनुसार न हो सके। अंग्रेजी व्याकरण के विद्वानों ने तो मुक्त-कंठ से अंग्रेजी भाषा के दोषों को स्वीकार किया है। दूसरी भाषाओं की स्वतन्त्रता पर पक्षपात का आरोप है।

केवल इतना ही नहीं है। प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा के विद्वानों ने परिभाषाओं को बड़ी सावधानी से बनाया था। संस्कृत में जिन वर्णों को स्वर कहते हैं अरबी में उनको हरूफ इल्लत कहते हैं। सर्व साधारण का विचार है कि वकार, अकार, और यकार से मिल कर 'वाय' बनता है। वाय का अर्थ है 'हाय'। बीमार आदमी हाय-हाय चिल्लाता है। इस लिये वकार, अकार और यकार को (वाक, आलिफ, इये) को हरूफ इल्लत कहते हैं। इसको विद्वत्तापूर्ण भाषा में वर्णन करें तो ये कहेंगे कि जो परिवर्तन होते हैं वे अधिकतर हरूफ इल्लत अर्थात् स्वरों में होते हैं। इसको अरबी में तअलील कहते हैं जिनमें रूपान्तर नहीं होता। वे हरूफ सहीह अर्थात् स्वस्थ वर्ण कहलाते हैं। हरूफ इल्लत (स्वर) बीमार वर्ण हैं।

अब थोड़ा सा संस्कृत की परिभाषाओं की सार्थकता पर ध्यान दीजिये। स्वर को स्वर इसलिये कहते हैं कि उनके बोलने में दूसरे वर्णों की सहायता नहीं लेनी पड़ती। वे स्वयं बोले जा सकते हैं। अकार के उच्चारण में किसी अन्य वर्ण के उच्चारण की सहायता आवश्यक नहीं। वह स्वयं बोला जा सकता है। इसी प्रकार ईकार, ऊकार, एकार, ओकार इत्यादि हैं।

परन्तु क, प, त, च बिना किसी स्वर की सहायता के नहीं बोले जा सकते। कम से कम अकार की सहायता तो अवश्य लेनी होगी। जो वर्ण दूसरे वर्ण की सहायता का इच्छुक है उसे सहीय (स्वस्थ या तन्दुरुस्त) कहना तो उचित नहीं वस्तुतः अरबी भाषा के विद्वान् विचार करें तो जिन वर्णों को उन्होंने हुरूफ इल्लत कहा उनको हुरूफ सहीह या उत्कृष्ट हुरूफ कहते और जिनको हुरूफ सही (तन्दुरुस्त) कहा उनको हुरूफ जईफ (कमजोर) या निकृष्ट कहते। इसी प्रकार संस्कृत व्याकरण की अन्य विशेषतायें देखी जायें तो आश्चर्य होता है कि संस्कृत व्याकरण के पंडितों ने कहाँ तक सूक्ष्म दर्शिता और विचारों की उच्चता दर्शाई है। इससे वैदिक संस्कृति की प्राचीनता और श्रेष्ठता का परिचय मिलता है। यह गौरव जादू से नहीं आता। इसके विकास के लिये लाखों वर्ष चाहिये। अब विद्या के अन्य मार्गों पर विचार कीजिये। वैदिक संस्कृति के संपोषक प्रकृति का ध्यानपूर्वक अध्ययन करते थे, उन्होंने कल्पना मात्र से काम नहीं लिया। कल्पित स्वर्ग (बहिश्त) नर्क (दोजख) स्थापित नहीं किये। न उनसे लोगों को ललचाया, न डराया। उन्होंने प्राकृतिक नियमों का अध्ययन किया। पृथ्वी को छान मारा और आकाश के तारों का अवलोकन किया। ज्योतिष शास्त्र बड़ा विशाल है। उतना ही विशाल है जितना कि आकाश है जिसमें कि तारे घूमते हैं। ज्योतिष विना गणित के नहीं आती, भूमि की माप के पश्चात् ही आकाश की माप

की जा सकती है। गणित को अरबी में हिन्दसा कहते हैं, क्योंकि ये हिन्द (भारत) से आरम्भ हुई थी। घोड़ों के पालन और शिक्षण के लिये बहुत सी पुस्तकें हैं। पशुओं को सर्व प्रथम जंगली दशा से पकड़ कर अपने घर का अंग बनाना तो वैदिक संस्कृति के निर्माताओं का ही कार्य था। कुत्ता, घोड़ा, गाय, इनका उल्लेख वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। आप जरा सोचें कि वे सर्व प्रथम पूर्वज कौन थे जिन्होंने यह सोचा कि हम कुत्ते, घोड़े और गाय से अपने अभ्युदय में सहायता ले सकें। इसके अतिरिक्त उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के औजारों का अन्वेषण किया।

अब कुछ आध्यात्म पर विचार कीजिये। हम क्या हैं? संसार क्या है? हम मर्त्य हैं या अमर है? अमरत्व और विनाश में क्या अनुपात है? इन समस्याओं से उपनिषदें भरी पड़ीं हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्या को विस्तार से वर्णन किया गया है। जीव क्या है? सजीव और निर्जीव में क्या भेद है? मनुष्य के कर्त्तव्यों के पालन के लिये किन-किन विद्याओं की आवश्यकता है। इन विषयों पर जितने ग्रन्थ आर्य जाति के पास हैं अन्य किसी के पास नहीं हैं। मनुष्य की बुद्धि जब अनन्त आकाश में दौड़ने लगती है, तो ईश्वर और अनन्त की अनन्तता का अनुभव होने से मनुष्य की बुद्धि भी विशाल हो जाती है। बहुधा मतमतान्तरों की धारणा है कि ईश्वर के विषय में सीमित बुद्धि का प्रयोग उचित नहीं है। उनको स्मरण

रखना चाहिये कि बुद्धि से अधिक मूल्यवान कोई वस्तु ईश्वर की ओर से मनुष्य को दान में नहीं मिली। बुद्धि साधारण सांसरिक कार्यों अर्थात् गाजर, मूली के क्रय-विक्रय के लिये ही नहीं दी गई। ये काम तो मूर्ख से मूर्ख भी कर सकता है। ईश्वर की विशालतम् सृष्टि को समझने के लिये विकसित बुद्धि की आवश्यकता है। इसीलिए गायत्री मंत्र में उपासक ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उसकी बुद्धि पूर्ण-रूपेण विकसित हो जिससे वह ईश्वर और ईश्वरेतर में विवेक कर सकें। और अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रीति से पालन कर सकें।

———

सातवाँ अध्याय

मुसलमानों की अदूर दर्शिता

जब मैं संस्कृत के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करता हूँ और मुसल्मानों के उस प्रयत्न की ओर दृष्टि डालता हूँ जो उन्होंने एक हजार वर्ष से पुरानी वैदिक संस्कृति को मिटाने और नई मुसलमानी संस्कृति के फैंलाने में किये तो मुझे मुसलमानों के लिये तथा संसार भर के लिये खेद का भाव उत्पन्न होता है। मुसलमान हिन्दुस्तान में इस देश के निवासियों को आध्यात्म और पहले से उत्तम जीवनचर्या सिखाने आये थे। इस विषय में उनको घोर असफलता हुई। मुसलमानों ने कई शताब्दियों तक शासन किया और उनके मौलवियों तथा प्रचारकों ने इस्लामी संस्कृति को फैलाने और प्राचीन संस्कृति के उन्मूलन में बहुत प्रयत्न किया परन्तु वह सफल नहीं हुये।

इसके दो कारण थे। प्रथम तो उन्होंने यह नहीं समझा कि जिनको वे ज्ञान सिखाने के लिये जा रहे हैं वे हमसे अधिक विद्वान् और अधिक सभ्य हैं। यदि वह भारत में सीखने के लिये आते तो यहाँ से बहुत सी विद्यायें सीखकर इस्लाम के आदि स्रोत अरब को भी अधिक लाभान्वित कर सकते थे

पर उनका नारा था।

'काबा से आये दौलते ईमां लिये हुये।'

(अर्थात् हम काबे से भक्ति का धन लेकर आये हैं)। परन्तु वह भूल गये—

गंगो जमन में रेगिपरेशाँ लिये हुये।

(अर्थात् गंगा यमुना के जल से भरपूर देश में अरब के रेत को ले चलना कोई अर्थ नहीं रखता। अरब के रेतीले मैदानों की शुष्क दृष्टि गङ्गा, यमुना की हरियाली की क्या तुलना कर सकती।

हैरत की बात है कि यह आये हैं दूर से,
वेदों की सरज़मीन में कुरआं लिये हुये।

क्या यह अनोखी बात नहीं है कि इतनी दूर से वेदों जैसी बहुमूल्य वस्तुओं के विद्यमान होते हुये कोई कुरआन जैसी कम मूल्य की वस्तु लाने का कष्ट करे।

वैदिक संस्कृति का यह एक ह्रास युग था। लोग प्राचीन संस्कृति को भूल गये थे। परन्तु जो कुछ शेष था वह भी इस्लामी संस्कृति का मुकाबिला करने के लिये काफी था। जिस काशी में मूर्ति-पूजा का प्राबल्य होते हुये भी प्राचीन शास्त्रों के विद्वान् बहुत से पण्डित उपस्थित थे वहाँ इस्लामी साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता। यदि मुसलमान बादशाहों ने कुछ मन्दिर तोड़ भी डाले तो यह पाशविक सफलता थी। विद्वत्ता की सफलता नहीं थी, अकबर बादशाह हिन्दुओं की पुरानी

संस्कृति से प्रभावित था। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह उपनिषदों की ओर इतना आकर्षित था कि यदि उसमें राजनीतिज्ञता होती और उसका भाग्य उसका साथ देता तो वह भारतवर्ष के इतिहास को बदल सकता था। सारांश यह है कि इस्लामी-संस्कृति वैदिक-संस्कृति को नष्ट करने में सफल नहीं हुई, जो कुछ सफलता हुई वह भी ऊपरी थी, मौलाना हाली को कहना पड़ा—

'जहाज़े हज़ाज़ी का बेबाक बेड़ा,
जो सेहूँ में अटका, न जेहूँ में ठठका।
किये पार थे जिसने सातों समन्दर।
गिरा वह दहाने में गंगा के आकर॥'

मुसलमानों की सबसे बड़ी हानि यह हुई कि वह इतने उत्तम साहित्य से वंचित रह गए। उनका प्रयत्न सूर्य को छिपाने में तो सफल न हुआ परन्तु वह अपने मुँह को सूर्य से छुपाने के प्रयत्न में लग रहे। साधारण मुसलमानों के हृदय में वैदिक साहित्य के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई और आज तक चली आ रही है। जहाँ कुर्आन जाता है गीता और उपनिषदों से मुँह फेर देता है। इससे मुसलमानों की भी हानि है और संसार की भी। वैदिक संस्कृति को भी इससे हानि पहुँची यानी इसकी उन्नति रुक गई। संस्कृतियाँ मनुष्यों के परिश्रम की अपेक्षा रखती हैं। विद्या को विद्वान् ही बढ़ा सकते हैं। यदि मनुष्य विद्या से विमुख हो जाय तो न केवल विद्वानों की ही

कमी होगी अपितु विद्या भी पात्रशून्य होकर नष्ट हो जायगी। प्रायः मुसलमान शुभ-चिन्तकों ने इस बात पर विचार किया। कहानी प्रसिद्ध है कि मिश्र देश के सिकन्दरिया नगर का बहुत प्राचीन और विशाल पुस्तकालय दूसरे खलीफा ऊमर बिन खत्ताब की आज्ञा से मिश्र की विजय के पीछे नष्ट कर दिया गया। हज़रत ऊमर का दावा था कि यदि इस पुस्तकालय में कुर्आन शरीफ की शिक्षाओं के अनुकूल वर्णन है तो कुर्आन शरीफ (पूर्ण) होने के कारण पर्याप्त है, किसी दूसरी पुस्तक की आवश्यकता नहीं। और यदि इन पुस्तकों में कुर्आन शरीफ की शिक्षा के विरुद्ध है तो इस नास्तिक साहित्य को शीघ्र से शीघ्र जला डालना चाहिए। फलतः ऐसा ही हुआ। लाखों वर्षों के मनुष्यों के परिश्रम से इकट्ठा किया हुआ पुस्तकालय भस्मी-भूत हो गया, परन्तु बहुत सी लन्तरानियों के पीछे भी मुसलमान देश केवल कुर्आन को अपनी उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं समझते। बगदाद के खलीफे मुसलमान थे। उनको भी हजरत ऊमर के दृष्टि-कोण की शिक्षा दी जाती रही होगी, परन्तु खलीफा हारुन रशीद और मामून रशीद ने कुर्आनी शिक्षा के अपूर्ण होने पर भी अवश्य विचार किया होगा। अतः बगदाद के दर्बार ने पश्चिम और पूर्व दोनों दिशाओं के देशों के विद्वानों का सम्मान किया और बहुत सी किताबों का अरबी में अनुवाद किया गया। आज मिश्र में काहिरा ए अल अजहर विश्वविद्यालय में समस्त देशों के लोग आते हैं और

हर प्रकार की नई शिक्षा से लाभ उठाया जाता है। कुर्आन काफ़ी नहीं समझी जाती। मिस्र की सरकार यूरोप के हर कला-कौशल के विद्वानों को आमंत्रित करती है। कुर्आन के हाफिजों से सहयोग नहीं लिया जाता और न हजरत जिबराईल की पवित्र आत्मा की खोज की जाती है।

वैदिक आर्यों का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था। वे वेदों को ईश्वर की वाणी मानते थे और वेदों को भिन्न-भिन्न विद्याओं का आदि-स्रोत भी स्वीकार करते थे। परन्तु उनका विचार था कि स्रोत तो केवल स्रोत है। स्रोत के पानी को खेत तक पहुँचाने के लिए भी तो परिश्रम की आवश्यकता है। आपके घर में गेहूँ का बीज उपस्थित भी हो तो भी उस बीज पर अन्वेषण करने होंगे, तभी तो खेती हो सकेगी। इसलिए वेदों को विद्याओं का आदि स्रोत और कोष मानते हुए भी सृष्टि के नियमों के अवलोकन करने और उससे नए आविष्कार करने में वे कभी उदासीन नहीं रहे। इस्लामी दृष्टिकोण पर एक मुसलमान विद्वान् का कथन है—

'आज हज महज़ एक रस्म बनकर रह गया है, वहाँ इन्सानों की एक भीड़ जमा हो जाती है जो चन्द खोराफात तौई व करही अनजाम देने के बाद वापिस आ जाती है। कोई नया तखैयुल और कोई नया दर्सेहयात सीख कर नहीं आती। काबे के यह फराएज़ किसी हद तक आज तक आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज की यूनिवर्सी-टियाँ सर अंजाम दे रही है। जहाँ दुनिया के हर गोशे से तुलवाए

इल्म सहीफए काइनात का दर्श लेने जाते हैं' ।*

'दो कुर्आन' नामी ग्रन्थ के लेखक का विचार है कि ईश्वर के इल्हाम के दो रूप हैं। इल्हाम का नाम है कुर्आन। कुर्आन दो हैं एक तो वह किताब है जो ईश्वर की ओर से हजरत जिबराईल के द्वारा अरबी भाषा में मुहम्मद साहब पर उतरा। दूसरा कुर्आन ईश्वर की रची हुई सृष्टि । अरबी का कुर्आन हमको जो शिक्षा देता है वह शिक्षा साक्षात् नहीं है अर्थात् वह सीधी हम तक नहीं आती। खुदा और कुर्आन पढ़ने वाले के मध्य में हजरत जिबराईल, हजरत मोहम्मद, मोहम्मद साहब के बाद आने वाले हाफिज, विद्वान, कातिब, छापने वाले अध्यापक और विद्यार्थियों की एक बड़ी बीच की शृङ्खला है परन्तु सृष्टि का कुर्आन तो हर मनुष्य साक्षात् पढ़ सकता है। एक अशिक्षित आदमी एक फूल को देखकर ईश्वर के वास्तविक गौरव का अनुभव कर सकता है।

'हर एक वर्ग शाहिद है अज़मत की तेरी
हर एक गुल में तुझको खिला देखते हैं ॥'

प्रश्न यह है कि सृष्टि की व्याख्या अरबी कुर्आन से की जाय या अरबी कुर्आन की व्याख्या सृष्टि से। और यदि इन दोनों कुर्आनों के वर्णनों या शिक्षाओं में विरोध प्रतीत हो तो किसको सत्य माना जाय। एक पक्का मुसलमान कहेगा कि तुम्हारा अवलोकन मिथ्या हो सकता है, कुर्आन मिथ्या नहीं

---

* देखो बर्कजीनी लिखित 'दो कुर्आन' पृष्ठ २३।

हो सकता, क्योंकि वह खुदाए पाक का कलाम है और वह खुदा के चुने हुए रसूल और बन्दे मोहम्मद पर उतरा था। परन्तु वर्क महोदय शायद ऐसा अनुभव करते हैं कि कुर्आन की शिक्षाओं की व्याख्या भी सृष्टि-रूपी कुर्आन के आधार पर होनी चाहिए क्योंकि सृष्टि के ईश्वर की रचना होने में तो किसी धर्म को इनकार नहीं। जो ईश्वर को मानता है वह यह भी मानता है कि पृथ्वी, सूर्य, चाँद इत्यादि सब ईश्वर के रचे हैं।

जिनका दृष्टिकोण यह है कि यदि ईश्वर के कार्य और ईश्वर की वाणी में समानता न हो तो ईश्वर की वाणी को अधिक विश्वसनीय समझना चाहिये, वे साइन्स (विज्ञान) और मजहब (धर्म) के मध्य एक वहुत बड़ी खाई पैदा कर देते हैं। कई शताब्दियों से जब से कि साइन्स का युग आरम्भ हुआ साइन्स और ईसाई मजहब (धर्म) के नेताओं में बहुत बड़ा संघर्ष होता रहा और इस्लाम ने भी अपने शास्त्र सम्बन्धी ईसाइयों से सहानुभूति का प्रकाश किया।

यह दृष्टि-कोण आर्य समाज या वैदिक ऋषियों के दृष्टि कोण से विरुद्ध है। फारसी के कवि सादी महोदय का कथन है कि—

'बे इल्म न तवां खुदारा शनाख्त'

अर्थात्—जो ज्ञान-शून्य है या विद्या-शून्य है वह ईश्वर को नहीं पहचान सकता। यहाँ इल्म या विद्या का क्या अर्थ है ?

इल्म से क्या केवल अरबी की भाषा या अरबी के व्याकरण से तात्पर्य है या सृष्टि के परिचय से। साइन्स साक्षात् सृष्टि से सम्बन्ध कराती है। उसके लिये पानी, हवा, मिट्टी, सोना, चाँदी सब ईश्वरीय पुस्तकें हैं। कुरान की भाषा में इनको खुदा की आयतें भी कहा जा सकता है। ये आयतें कुरान की आयतों से अधिक मूल्यवान और विश्वास के योग्य (अरबी भाषा में आयत का अर्थ है लिंग या सूचक) सर सैयद अहमद को बहुत से मुसलमान नेचरिया (प्रकृतिवादी) कहा करते थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि मुझको प्रकृतिवादी (नेचरिया) कहना कोई अपमान की बात नहीं है। क्योंकि ईश्वर सब से बड़ा नेचरिया है। वह नेचर के विरुद्ध कोई काम नहीं करता।

यह दृष्टिकोण आर्य समाज के दृष्टिकोण के निकटतर है। अथर्ववेद में एक मंत्र है—

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥

(अथर्ववेद कान्ड १०, सूक्त ८, मन्त्र ३७)

यहाँ प्रश्न उठाया है कि ब्रह्म को कौन जान सकता है। उत्तर दिया कि जो मनुष्य उस सूक्ष्म सूक्त अर्थात् नियम को जानता है जो संसार की हर वस्तु में ओत-प्रोत है और जो इस नियम से भी अति सूक्ष्म मौलिक सूत्र को जानता है वह महान् ब्रह्म को जानता है।

यह मंत्र समस्त वैदिक युग के ऋषियों की भावना को प्रगट करता है जिन्होंने साइन्स का कभी विरोध नहीं किया। साइन्स उस ईश्वर का कानून है जिसने सृष्टि को रचा। साइन्स के लोग इसी कानून की खोज करते हैं। जो शास्त्र इस नियम के अनुकूल नहीं है उसे ईश्वरीय शास्त्र तो कह नहीं सकते और वह विश्वास के योग्य नहीं है। वैदिक-धर्म में तीन बड़े स्तम्भ माने गये हैं। ज्ञान-काण्ड, कर्म-काण्ड, उपासना काण्ड अर्थात् पहले ज्ञान फिर कर्म और फिर उपासना।

उपासना विना ज्ञान और बिना कर्म निरर्थक है। वैदिक ऋषि इस बात पर बल देते थे। उन्होंने कभी अपने व्यक्तित्व को अपनी शिक्षा के ऊपर नहीं समझा। उनका अपने शिष्यों के लिये यह उपदेश था कि यदि हम कोई अधर्म आचरण करें तो हमारा अनुसरण मत करो। हमारी शिक्षा के गुण और अवगुण का विवेक करो। स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में बार-बार यह उपदेश दिया है कि मेरे ग्रन्थों में जो मिथ्या जान पड़े उसे कभी स्वीकार मत करो। प्राचीन काल में जब गुरु किसी को यज्ञोपवीत देते थे तो शिष्य कहता था कि "आप मेरे गुरु हैं, उपदेश दीजिये।" गुरु कहता था, "ईश्वर तेरा गुरु है"। यह भावना वैदिक सभ्यता के ह्रास के उपरांत नष्ट हो गई। भारतवर्ष में ऐसे गुरु उत्पन्न हुये जिन्होंने अपने नाम पर सम्प्रदाय चलाये—रामानन्दी, कबीर पंथी,

दादू पंथी, यह सब पंथ गुरुओं के नाम पर हैं। पैगम्बरों का भी यही हाल रहा। इस्लाम में भी यही बात है। साधारण खुतबों (उपदेशों) को पढ़ जाइये। खुतबा उसको कहते हैं जो प्रायः विशेष अवसरों पर मस्जिदों में पढ़ा जाता है। इन ख़ुतबों का अधिकतर भाग तो हजरत मुहम्मद साहब की प्रशंसा में ही होता है। यद्यपि कुछ मुसलमान मौहम्मदी कहलाने से नाराज होते हैं और अपने को मुस्लिम (इस्लाम वाले) कहते हैं परन्तु साधारण कलमे से ले कर सब धार्मिक कृत्यों में और उपासनाओं में हजरत मौहम्मद साहब का विशेष भाग है। इस भावना ने खुदा के साथ मोहम्मद साहब को भी शरीक कर दिया है। इस निर्बलता को मुसलमान लोग अच्छी तरह जानते हैं और इस्लाम के विद्वान् अपने पक्ष की पुष्टि में अनेक प्रकार की युक्तियाँ देते हैं। यह शिर्क (ईश्वर के साथ उपासना में किसी और को सम्मिलित करना) कहलाता है। लेकिन शिर्क तो इनकी घुट्टी में पड़ा है। शब्दों की लीपा पोती से कुछ लाभ नहीं।

आठवाँ अध्याय

विश्वास और ईमान

जिज्ञासा और विश्वास (या ईमान) दो वृत्तियाँ हैं जो मनुष्यों में भिन्न-भिन्न अनुपात से पाई जाती हैं। जिज्ञासा वह वृत्ति है जिससे मनुष्य सदा यह जानने की कोशिश करता है कि सत्य क्या है ? और सत्य क्या नहीं है ? प्रत्येक मनुष्य सत्य को प्रिय समझता है और झूठ से घृणा करता है। कोई मनुष्य जान बूझ कर झूठ का ग्राहक नहीं है परन्तु अल्पज्ञ होने के कारण जब बहुत से झूठ सत्य का भेष धारण कर उसके समक्ष आते हैं तो वह झूठ को ग्रहण कर लेता है। यदि सन्देह हो जाय तो वह सत्य और असत्य में विवेक करने का यत्न करता है। यजुर्वेद में एक मंत्र है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः॥
(य० अ० १९, मं० ७७)

इसका आशय यह है कि ईश्वर ने मनुष्य के मस्तिष्क में ऐसी वस्तु उत्पन्न कर दी कि वह सत्यासत्य विवेक करता रहता है। सत्य में अविश्वास या अश्रद्धा रहती है और सत्य में विश्वास रहता है।

यह नैसर्गिक नियम है परन्तु बहुधा मनुष्य परिश्रम से बचना चाहता है। अन्वेषण करना बहुत कठिन काम है। अतः वह प्रायः दूसरों के अन्वेषण का आश्रय लेता है और जो कुछ वे कह देते हैं उसी को मान बैठता है। यदि कोई अन्वेषण से खोजे हुये परिणाम उसके वर्तमान मन्तव्यों से विरुद्ध होते हैं तो वह उनको स्वीकार करने में उद्यत नहीं होता। और बहुत सी असत्य बातों को मान लेता है जो वर्तमान मन्तव्यों के अनुकूल होती हैं। इसको अन्ध-विश्वास या अन्ध-श्रद्धा कहते हैं।

अन्ध-श्रद्धा एक रोग है। जैसे दुखती हुई आँख प्रकाश सहन नहीं कर सकती इसी प्रकार अन्ध-श्रद्धालु-मनुष्य अन्वेषण से घबराता है कि कहीं ऐसा न हो कि जो आसमानी किला उसने बनाया है वह गिर कर चूर-चूर हो जायें और उसको अपने मन्तव्यों और कार्य प्रणाली में परिवर्तन करना पड़े।

जब हम आर्य समाज और इस्लाम को समालोचना की दृष्टि से देखते हैं तो हमको ज्ञात होता है कि आर्य समाज की वृत्ति अन्वेषण की वृत्ति है। अन्धविश्वास की नहीं।

स्वामी दयानन्द की शिक्षा है—'पहले जानो फिर मानो।' इस्लाम की प्रवृत्ति इससे विपरीत है—'ईमान पहले लाओ, जानने की कोशिश पीछे करो।' इस्लाम कहता है 'सत्य तो अनन्त है। तुम्हारी बुद्धि सान्त है। अनन्त को सान्त की सीमा के भीतर लाना असम्भव है।' आर्य समाज कहता है कि

बुद्धि कितनी ही सान्त न हो हमारे पास इससे अच्छा और कोई साधन नहीं है जिससे कि सत्य को जान सकें। सत्य कि अनन्तता का प्रत्यक्ष ही बुद्धि से होता है। विशाल आकाश की विशालता का अनुभव भी उसी पक्षी को होगा जिसने अपने निर्बल पक्षों के बल पर आकाश में उड़ना आरंम्भ किया। जो घोंसले में बैठा-बैठा ही आकाश को विशाल समझ बैठता है, उसने विशालता का अर्थ ही नहीं समझा। पर हमारी बुद्धि सान्त है परन्तु बुद्धि के प्रयोग से बुद्धि में भी विशालता आ जाती है। पक्षी उड़ने का अभ्यास करके उड़ान में वेग और उत्तमता उत्पन्न कर देता है। मनुष्य की बुद्धि भी साधारण गाजर मूली के क्रय-विक्रय से लेकर आध्यात्मिक सूक्ष्म विषयों तक विचार करते-करते विशाल हो जाती है। सीमा का घेरा बढ़ता जाता है। यदि इस प्राकृतिक गुण का प्रयोग न किया जाय तो मनुष्य बहुत शीघ्र भेड़ बकरी बन जाता है।

हम 'धर्म' (मजहब) 'धर्म' का शोर सुनते हैं। क्या धर्म (मजहब) मनुष्य को भेड़ बनाने की मशीन है ? या भेड़ को मनुष्य बनाने की ? ईश्वर क्या है ? हम क्या हैं ? दुनिया क्या है ? संसार क्या है ? इन सूक्ष्म विषयों पर बुद्धि का प्रयोग किया जाय कि नहीं। वेदान्त दर्शन वैदिक दर्शन की व्याख्या करने वाली एक प्रसिद्ध पुस्तक है। उसका पहला सूत्र है—

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।'

अर्थात् हम ब्रह्म (अल्लाह) के जानने की कोशिश करते हैं। अर्थात् अब हम इस विषय की खोज करना चाहते हैं कि ब्रह्म (अल्लाह) है क्या ? इस्लाम धर्म में इस प्रकार की ऊहा-पोह को अनिष्ट समझा जाता है। भक्तों का काम ईश्वर की भक्ति करना है। ईश्वर के विषय में ननु न च करना भक्तों का काम नहीं। इसको अन्ध-भक्ति कहते हैं। परन्तु इससे ईश्वर की मान्यता बढ़ती नहीं। ईश्वर की महत्ता का ज्ञान तो तभी होगा जब हम ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में सूक्ष्म प्रश्नों पर विचार करेंगे।

———

नवाँ अध्याय

परमेश्वर

प्रत्येक मत में परमेश्वर के अस्तित्व को सर्वोत्कृष्ट और सर्वोपरि माना गया है, परन्तु आर्य्य समाज और इस्लाम के अनुयायियों की दृष्टि में परमेश्वर के विषय में भी बहुत अन्तर है। इस्लाम का अन्ध विश्वास उनको बाधित करता है कि वे ईश्वर के गुणों को सब अन्य पदार्थों के गुणों से उत्कृष्ट समझने के साथ-साथ दूसरे पदार्थों के अस्तित्व को भी स्वीकार न करें। दार्शनिकों और विशेषकर इस्लामी दार्शनिकों ने अस्तित्व के विचार से पदार्थों के तीन भाग किये हैं। *स्वयंभू* (वाजिबुल् वजूद), *संभव* (मुमकिनुल वजूद), *अभाव* (मुमतन अल वजूद)। 'स्वयंभू' या वाजिबुल् वजूद वह है जो अपने अस्तित्व के लिये किसी दूसरी वस्तु के आश्रित न हो। जो अनादि और अनन्त हो। अर्थात् कोई ऐसा काल न था जब वह वस्तु न थी। और कोई ऐसा काल न होगा जब वह वस्तु न रहे। 'संभव' या मुमकिनुल-वजूद वह सत्ता है जिसका अस्तित्व संभव तो है परन्तु दूसरे पदार्थ के आश्रित है। उसकी उत्पत्ति के लिये कोई विशेष कारण हो। उस कारण

के अभाव में उस वस्तु का भी अभाव हो जाय। जैसे वर्षा मुम्किनुल्वजूद (संभव) है। बादल होंगे तो होगी। बादल न होंगे तो न होगी। वर्षा का होना 'असंभव' तो नहीं है। परन्तु ऐसी बात नहीं कि हर अवस्था में वर्षा का होना आवश्यक समझा जा सके। तीसरा पदार्थ है मुम्तनअल्वजूद या 'असंभव' जिसका अस्तित्व किसी अवस्था में भी संभव न हो। जैसे खरगोश के सींग। कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो खरगोश के सींगों को अस्तित्व में ला सके।

मुसलमानों का सिद्धांत है कि केवल ईश्वर ही वाजिबुल्-वजूद (स्वयंभूः) है। ईश्वर से इतर सभी पदार्थ या तो 'संभव' है या 'अभाव'। आर्य समाज का सिद्धांत है कि केवल ईश्वर ही नित्य या 'स्वयंभू' नहीं है। जीव और प्रकृति भी नित्य अर्थात् वाजिबुल वजूद हैं। इन दो परस्पर विरोधी मंतव्यों की मीमांसा अपेक्षित है।

यदि केवल ईश्वर को ही नित्य माना जावे तो अन्य सभी पदार्थों की उत्पत्ति ईश्वर से ही होगी। सभी संभव पदार्थों की उत्पत्ति का आधार या तो ईश्वर की कल्पना होगी या ईश्वर की रचना। एक अंधा मनुष्य संभव अर्थात् मुमकिनुल् वजूद है। उत्पन्न हो गया। संभव है कि उत्पन्न न होता। क्यों उत्पन्न हुआ? क्यों न होता? ईश्वर की इच्छा। यदि हर प्रश्न का एक ही उत्तर है अर्थात् 'ईश्वर की इच्छा' तो यह बुद्धि पर ताला डालने के समान है और अन्धविश्वास की पराकाष्ठा।

है। 'अभाव' का आधार तो केवल अज्ञान है। खरगोश के सींगों का अस्तित्व तो केवल अज्ञानी के ही मस्तिष्क में आ सकता है। अतः ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को नित्य न मानना ईश्वर की महत्ता को घटाना है बढ़ाना नहीं। सेवक वर्ग खुशामद के रूप में स्वामी से कह उठते हैं कि आप सब कुछ हैं और सब कुछ कर सकते हैं। बुद्धिमान स्वामी ऐसी प्रशंसा से प्रसन्न नहीं होते। क्योंकि यह प्रशंसा अयथार्थ है। हर अच्छी और बुरी चीज़ का ईश्वर को उत्तरदाता मानना निन्दा है स्तुति नहीं। यदि ईश्वर को ही नित्य माना जावे तो कई प्रश्न उत्पन्न होंगे जिनका समाधान कठिन ही नहीं अपितु असंभव होगा। प्रथम तो मुमकिनुल वजूद (संभव) और मुमतुनुलवजूद (असंभव या अभाव) की व्याख्या नहीं हो सकती। यदि केवल ईश्वर ही एक नित्य पदार्थ है और सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ईश्वर के सिवाय और कोई सत्ता न थी तो प्रश्न उठता है कि ईश्वर पूर्ण था या अपूर्ण। यदि पूर्ण था तो 'पूर्त्ति' की आवश्यकता न थी। पूर्ति उस चीज़ की होती है जो अपूर्ण हो और उसका पूरा किया जाना आवश्यक है। यदि मुझे यात्रा की आवश्यकता नहीं तो न मोटर की आवश्यकता है न टूटी मोटर की मरम्मत की। रचयिता रचना तभी करेगा जब रचना की आवश्यकता हो। अर्थात् उसको कमी का अनुभव होता है। यह कमी या तो स्वयं उसमें हो या किसी अन्य व्यक्ति में। आप के मत में ईश्वर के अतिरिक्त और कोई तो

था नहीं। अतः सृष्टि की रचना की क्या आवश्यकता थी। यदि आवश्यकता हो सकती है तो ईश्वर को केवल अपने लिये। आवश्यकता की अनुभूति विना न्यूनता के होती नहीं। अतः यदि ईश्वर ने सृष्टि को केवल अपने स्वार्थ के लिये बनाया तो वह मुहताज या अपूर्ण हो गया। इस प्रश्न का उत्तर यह नहीं है कि ईश्वर जो चाहता है वह करता है। हर प्रश्न के उत्तर में "ईश्वर-इच्छा" कह देना कोई युक्ति नहीं है। यह तर्क-शास्त्र का उपहास मात्र है। इच्छा तभी होती है जब कभी किसी चीज का अभाव हो परन्तु उसकी आवश्यकता की अनुभूति हो। यदि आवश्यकता की अनुभूति न हो तो 'इच्छा' का कोई अर्थ नहीं। "इच्छा' आपको उसी चीज़ की होती है जो आपके पास न हो परन्तु उसके विना आपका काम रुका पड़ा हो। ईश्वर का कोई काम अपने लिए नहीं, न स्वार्थ वश है। न किसी दुर्बल भावना से प्रभावित होकर करता है।

उदाहरण के लिये ईश्वर ने सूर्य बनाया। मुसलमान और आर्य समाजी दोनों का इस विषय में एक मत है कि सूर्य एक बनी हुई चीज़ है। एक समय था जब सूर्य न था। सूर्य को ईश्वर ने अपने लिये नहीं रचा। सूर्य की रचना हमारे लिये हुई है क्योंकि हमारी आँख सूर्य्य के प्रकाश के विना अपना काम नहीं कर सकती। सूर्य्य की आवश्यकता मनुष्यों को है, कुत्तों को, बिल्लियों को, पशु पक्षियों को, अन्धों को भी। परन्तु ईश्वर को नहीं। अतः स्पष्ट है कि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व

ईश्वर के अतिरिक्त कुछ ऐसे जीव भी थे जो चेतन थे। अल्प थे। अल्पज्ञ थे और अल्पशक्ति थे। उनके लिये सृष्टि की आवश्यकता थी। दृष्टांत के लिये आप मनुष्य के अस्तित्व पर विचार करें। मनुष्य एक समुदाय है जीव और देह का। जीव चेतन है। देह जड़ है। आवश्यकता चेतन की होती है। जड़ को आवश्यकता की अनुभूति नहीं होती। मैं जीव हूँ। मेरी इच्छा है। मैं उस इच्छा को पूरा करने में असमर्थ हूँ। देखने के लिए आँख चाहिये। चलने के लिये पैर चाहिये। यदि मैं अचेतन या जड़ होता तो इन चीजों के न होने पर भी मुझे इनकी इच्छा न होती। जिस कुर्सी पर मैं बैठा हूँ उसकी टाँग टूट जाय तो कुर्सी को पीड़ा नहीं होती। न उसकी यह इच्छा होती है कि टूटी टाँग की चिकित्सा की जावे। अतः यदि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य चेतन सत्तायें न होतीं तो सृष्टि रचना की कोई आवश्यकता न होती।

अब कुछ ईश्वर के नामों पर विचार कीजिये। वेदों में ईश्वर के बहुत से नाम आये हैं। ईश्वर तो एक ही है परन्तु उसके काम बहुत से हैं। ऋग्वेद का एक मंत्र है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

ईश्वर एक है परन्तु विद्वान् लोग उसको अनेक नामों से पुकारते हैं। ईश्वर का एकत्व और उसके नामों का बहुत्व यह इस मंत्र का रहस्य है। ईश्वर एक होता हुआ भी अनेक नामों से क्यों पुकारा जाता है? इसका कारण यह है कि ईश्वर के

साथ उसके अतिरिक्त अन्य सत्तायें भी हैं जिनके ईश्वर के साथ भिन्न-भिन्न सम्बन्ध हैं। इन सम्बन्धों की भिन्नता दर्शाने के लिये ईश्वर के बहुत से नाम हैं। इन्हीं सम्बन्धों को आप 'गुण' कह सकते हैं। यदि जीव अनेक न होते तो उनके दृष्टिकोण भी भिन्न न होते। एक ईश्वर होता और उसके नामों की आवश्यकता न होती। यह नामों का वाहुल्य केवल वेदों में ही नहीं है। कुरान में भी है। कुरान में लगभग ६६ नाम ईश्वर के आये हैं। हर नाम एक गुण या सम्बन्ध को बताता है। उदाहरण के लिये 'अल्लाह' शब्द को लीजिये। 'अल्लाह' 'अल' और 'इलह' दो शब्दों से मिलकर बना है। इसका अर्थ है एक मुख्य 'पूजनीय' सत्ता। पूजनीय (अरबी में माबूद) कर्म-प्रधान (मफऊल) शब्द है। इसके लिये 'पूजन' क्रिया और पूजक कर्त्ता की आवश्यकता है। यदि पूजक नहीं तो पूजा नहीं। 'पूजा' नहीं तो पूज्य नहीं, 'रब्बुल-आलमीन' का अर्थ है सब जगतों का पालक। यदि जगत् न हो तो पालक कैसा ? इसी प्रकार रहीम, हकीम, कदीर, बसीर अरबी शब्द कुरान में आये हैं, वेदों में भी 'अग्नि' (अग्रणी) या पथ-प्रदर्शक अथवा नेता। 'वरुण' वरने योग्य। पिता, माता, बन्धु, सखा आदि नाम हैं। ईश्वर जीवों की सहायता अनेक प्रकारों से करता है इसलिये उसके बहुत से नाम हैं। आप संसार भर की किसी भाषा में ईश्वर का एक भी ऐसा नाम नहीं बता सकते जिससे किसी ऐसे गुण या कर्म का अर्थ न निकलता हो जिसका

सम्बन्ध जीवों के साथ न हो।

इस्लाम केवल ईश्वर को ही नित्य मानता है अतः इस्लाम में उपासना के उद्देश्य भी भिन्न हैं और प्रकार भी। मुसलमान ईश्वर की महत्ता को तो मान्यता देता है परन्तु ईश्वर की महत्ता में अपने निज के उद्देश्यों की पूर्ति की अनुभूति नहीं रखता। ईश्वर ने जगत् का निर्माण जीवों के लिये नहीं किया। इसलिये वह ईश्वर की पूजा ईश्वर की इच्छा-पूर्ति के लिये करता है। जीवों का हित उसकी पूजा का मुख्य भाग नहीं है। जीव ईश्वर के हाथ के खिलौने हैं। कठपुतलियाँ हैं। आर्य्य समाजी को वेदों ने यह उपदेश दिया है कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना जीवों के हित के लिये की है इसलिये अन्य जीवों का हित तथा सेवा मनुष्य का धार्मिक कर्तव्य है। जो मनुष्य दूसरों की सेवा की भावना नहीं रखता वह ईश्वर की उपासना भी समुचित रीति से नहीं करता।

ख़ुदा की है यह इबादत, ख़ुदा सा बन जाऊँ।
मैं डूबतों के लिये नाख़ुदा सा बन जाऊँ॥*

ईश्वर अपने उपासकों से कोई ऐसी चीज़ नहीं चाहता जिससे उसके अपने स्वार्थ की पूर्ति हो। दूसरों का हित करना ईश्वर की सच्ची पूजा है इसलिये 'अहिंसा' ईश्वरोपासना का मुख्य अंग है। 'अहिंसा' का अर्थ यह है कि हमको दूसरों से

* 'नाखुदा' का अर्थ है मल्लाह।

प्रेम हो और किसी प्रकार भी हम उनको कष्ट न दें। 'अहिंसा' की यह प्रवृत्ति इस्लामी पूजा का अंग नहीं है। वह ईश्वर की कल्पित इच्छा को पूरा करने के लिये किसी जानवर की हत्या कर सकते हैं। 'कुर्बानी' के विषय में इस्लाम के मानने वाले तौहीद या 'एक ईश्वर की भावना' की उपेक्षा करके मूर्तिपूजकों का अनुकरण करते हैं। पौराणिक हिन्दू कई देवी-देवताओं को मानता है। उनमें कुछ क्रूर भी हैं, कुछ दयालु। जैसे काली माई क्रूर है इसलिये उसको प्रसन्न करने के लिये बकरे की बलि दी जाती है। शिवजी को भाँग प्रिय है। इसलिये शिव के उपासक भाँग पीते और शिव की मूर्ति पर बेल या बेल-पत्र चढ़ाते हैं। परन्तु मुसलमान ईश्वर को 'एक' मानते हैं। यदि काली माई के समान ईश्वर रक्त-प्रिय नहीं तो उसके लिये गाय' की कुर्बानी क्यों दी जाती है। आर्य्य समाज यह नहीं मानता कि ईश्वर अनेक है। न यह मानता है कि ईश्वर रक्त-प्रिय है। इसलिये आर्य्य समाजी किसी कुर्बानी को ठीक नहीं समझता। इस प्रकार यद्यपि इस्लाम और आर्य्य समाज दोनों ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं और 'एक ईश्वर' को मानते हैं परन्तु पूजा तथा व्यवहार में दोनों का दृष्टिकोण समान नहीं है। इस्लाम का आचरण उनके विचारों के विरुद्ध है, आर्य्य समाज का नहीं।

ईश्वर क्या है ? और कैसा है ? इसका आधार हमारी कल्पना नहीं है। ईश्वर की रचना को देख कर ही हम जान

सकते हैं कि जैसी सृष्टि हमको दृष्टिगोचर हो रही है उसका रचने वाला कैसा होगा। आप एक घड़ी को देखकर घड़ीसाज के गुणों का अनुमान करेंगे। किसी छापेखाने को देखकर छापे की मशीन के बनाने वाले का। किसी ग्रंथ को देखकर ग्रन्थकार का। यही वैज्ञानिक शैली है। यही ठीक है। यही युक्ति संगत है। यदि हम अपनी इच्छा के अनुसार ईश्वर की कल्पना करलें तो यह कल्पना मात्र होगी। उदाहरण के लिए कुरान में लिखा है। 'कुन् फ़ यकून' (ईश्वर ने कहा 'होजा' और हो गया)। ईश्वर की आज्ञा मात्र ही पर्याप्त थी। सृष्टि रचना के लिये किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता न थी। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। अब थोड़ा सा विचार कीजिये। ईश्वर आज भी सर्वशक्तिमान् है। आज भी चीजों को बनाता और बिगाड़ता है। ईश्वर की रचना शक्ति समाप्त नहीं हो गई। आज ईश्वर केवल 'कुन्' (भव) कहने मात्र से चीजों को क्यों नहीं बना देता। श्रावण मास में वर्षा होती है। बादल बनने में कई मास लग जाते हैं। गर्मी की ऋतु में सूर्य्य की किरणें पानी को भाप बना-बना कर समुद्र से खींचती हैं। और वर्षा होते-होते कई मास लग जाते हैं। यदि केवल आज्ञा मात्र पर्याप्त होती तो झट वर्षा हो जाती। पानी बनाने के लिये आक्सीजन और हाइड्रोजन चाहिये। इसके लिये भी समय की अपेक्षा है। इसी प्रकार हीरे की खानों में हीरा; सोने की खानों में सोना; लोहे की खानों में लोहा; कोयलें की

खानों में कोयला; मिलता है। किसी भूगर्भ-विद्या-विशारद से पूछिये। वह आपको बतायेगा कि इन चीजों के बनने में कितने दिन लगे और रचना का क्रम क्या था? कुछ पदार्थों के बनने में लाखों वर्ष व्यतीत हो गये।

मुसलमान विद्वानों के पास तो इतना गणित का ज्ञान भी नहीं कि इस काल की गणना कर सकें। आजकल भी ईश्वर मनुष्यों को उत्पन्न करता है और दूसरे जन्तुओं को भी। परन्तु किसी को केवल 'कुन' कहकर नहीं। हरएक की उत्पत्ति का क्रम है और काल की मर्यादा नियत है। घास थोड़े ही दिनों में उग आती है। चीड़ का वृक्ष कई वर्षों में बढ़ता है। हजरत मुहम्मद साहब का जीवन भी 'कुन' कहने से नहीं हुआ। उनके जीवन को भी वे सब अवस्थायें पार करनी पड़ीं जो किसी मनुष्य के जीवन के लिये आवश्यक समझी जाती हैं। 'कुरान शरीफ़' का अवतरण भी क्रमशः कई वर्षों में पूरा हो पाया। यह वह ईश्वर है जिसकी सत्ता को सृष्टि या कुदरत प्रमाणित कर रही है। इसके विरुद्ध एक कल्पित ईश्वर है जो मुसलमान विद्वानों के मस्तिष्क की उपज है। वह सब कुछ कर सकता है। विना कारण के कर सकता है और विना प्रयोजन के कर सकता है। विना आवश्यकता के कर सकता है। विना बाप के बेटा पैदा कर सकता है जैसा कि हजरत मरियम के पेट से हजरत ईसू मसीह की उत्पत्ति के विषय में माना जाता है। मुसलमान मानते हैं कि हजरत ईसा विना बाप के उत्पन्न

हुये थे। उनकी मान्यता है कि वह केवल पैगम्बर (देवदूत) थें। ईश्वर के बेटे न थे। मुसलमानों ने यह धारणा कहाँ से बनाई ? सृष्टि का कोई व्यापार इस धारणा का प्रकाश नहीं करता। मुसलमान खुदा का नाम तो सुनते थे। उन्हें खुदा के रचयिता और सर्वशक्तिमान होने का भी पता था। उन्होंने मनुष्य राजों को भी देखा जो प्रायः मनमानी क्रिया करते हैं और अपनी शक्ति को भिन्न-भिन्न रीतियों से दिखाया करते हैं। सब से बड़ा सम्राट वह माना जाता है जो किसी की बात न माने और जो चाहे करें। कोई उसका प्रतिषेध न कर सकें। कोई उसकी आज्ञा के पालन में देर न लगा सके। हर राजा यही चाहता है कि मेरी आज्ञा करते ही चीज हो जाय (कुन फ़यकून)। इसी प्रकार के ईश्वर की मुसलमानों ने भी "कल्पना" कर ली। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने अपने मन का ईश्वर रच लिया। और अपने मन माने गुण उस पर आरोपित कर दिये। उसको अर्श (द्यौलोक ?) के तख्त पर बिठाया। उसकी सेवा के लिये बड़े-बड़े पंखों वाले फ़रिश्तों का निर्माण किया। यदि पंख न होते तो फरिश्ते आकाश में उड़ते कैसे ? परन्तु इस बात पर विचार नहीं किया कि आकाश है क्या ? क्या फरिश्ते केवल उड़ते ही रहते हैं या उनके कहीं घोंसले भी हैं। इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं। कल्पनायें वास्तविक घटनायें तो होती नहीं वह तर्क का भार नहीं उठा सकतीं।

आर्य समाज किसी ऐसे ईश्वर को नहीं मानता। शायद मुसलमानों ने सुन रक्खा होगा कि ईश्वर आकाश में है। वेद में आया है कि जैसे आकाश व्यापक है उसी प्रकार ईश्वर भी व्यापक है। परन्तु वेदों में 'आकाश' का अर्थ वह चीज़ नहीं है जो ऊपर नीली-नीली दिखाई पड़ती है और जिसको लोक भाषा में आस्मान कहते हैं। 'आकाश' पाँच तत्वों में से एक तत्व है। मुसलमान विद्वानों ने केवल चार तत्व माने हैं पृथ्वी, जल, तेज और वायु। परन्तु इन चारों से भी सूक्ष्म एक और तत्व है जिसका नाम 'आकाश' है। यह नीला-नीला आस्मान 'आकाश' नहीं है। 'आकाश' एक सूक्ष्म तत्व है जो शेष चार तत्वों का आधार है। ईश्वर आकाश से भी सूक्ष्म-तम होने के कारण हर जगह व्यापक है। मुसलमान विद्वानों ने बहुत सी वैदिक बातों को भ्रांति के कारण विकृत कर लिया है। और अब अकारण ही लकीर पीटते जाते हैं। मुसलमानों के इस दृष्टिकोण का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि उन्होंने सायंस का विरोध किया क्योंकि सायंस वाले तो कारण और कार्य के क्रम को मानते हैं। बिना कारण के कार्य नहीं होता। हर कार्य के लिये कारण चाहिये। इस्लामी विचार यह है ईश्वर के साथ कारण-कार्य के नियमों को सम्बद्ध करना ईश्वर की निन्दा है। मिट्टी से घड़ा तो कुम्हार भी बना लेता है। ईश्वर ऐसा कुम्हार है जिसको मिट्टी की आवश्यकता नहीं। न घड़े के ग्राहकों की। परन्तु उपमा देते

समय यह बात भूल गये कि ऐसा ईश्वर कोई उद्देश्य रखने वाली सत्ता न होगा। ऐसा कुम्हार किसी सोसायटी में रहने के योग्य नहीं।

जिस युग में सायंस की उन्नति हुई उस समय यूरोप के ईसाई लोग भी मुसलमानों के समान मजहब, ईश्वर, आत्मा तथा जगत् के सम्बन्ध में अनेक विचित्र धारणायें रखते थे। ईसामसीह का क्वारी मरियम के पेट से विना बाप के उत्पन्न होना और उनका सदेह स्वर्गारोहण आदि-आदि सैकड़ों बातें थीं जो सायंस की दृष्टि में भ्रांति-मूलक थीं। ईसाई लोग अब भी इनमें से बहुत सी भ्रांति-पूर्ण मान्यतायें रखते हैं।

फलतः जब सायंस का प्राबल्य हुआ तो ईसाई पादरियों ने इसका घोर विरोध किया। सायंस वालों को धर्म-विरोधी समझकर अनेक प्रकार के कष्ट दिये गये। परन्तु कई सौ वर्ष के संघर्ष के उपरान्त विज्ञान की विजय हुई। और ईसाई पादरियों ने सायंस वालों से समझौता कर लिया। विज्ञान का कार्यक्षेत्र हुआ जगत् और उसका समस्त व्यापार। ईसाई पादरियों का कार्य-क्षेत्र हुआ "परलोक" जो एक काल्पनिक सत्ता है।

कुछ दिनों पश्चात् ईसाई पादरियों और ईसाई राजों में खटपट हो गई। राजों की मांग थी कि उनके शासन-कार्य में पादरी लोग हस्ताक्षेप न करें। एक समय था कि ईसाइयों का रोम का पोप समस्त ईसाई सम्राटों का भी अधिपति था। वह

किसी राजा के कान उमेठ सकता था और उसकी लेखनी के एक इशारे से राज-च्युत भी हो सकता था। सायंस ने वहाँ भी कुछ सहायता की और ईसाइयों को पीछे हटना पड़ा। यूरोप की पिछली दो-तीन शताब्दियों का इतिहास इस बात की साक्षी देता है। परन्तु अन्त में ईसाई जगत् ने सायंस का लोहा मान लिया। अपने कुछ विचारों में परिवर्तन कर लिया है और कुछ बातों में चुप्पी साध ली है। इस प्रकार ईसाइयत की कट्टरता समाप्त हो गई। आजकल के ईसाई चर्च या सम्प्रदाय दो हजार वर्ष पूर्व के चर्च नहीं रहे। और न १६ वीं या १७ वीं शताब्दी के चर्च शेष हैं। आजकल के अन्यान्य चर्चों का उद्देश्य है राज-नैतिक प्रशासन। वे सब ईसाई चर्चों का एकीकरण करके शेष दुनियाँ पर शासन करना चाहते हैं। हजरत ईसा को ईश्वर का पुत्र मानें या न मानें। ईसा की उत्पत्ति को क्वारी मरियम के पेट से बिना बाप के मानें या न मानें। ईसाइयों की स्वर्ग और नरक की पुरानी भावनाओं को स्वीकार करें या न करें। आजकल का ईसाई जगत् एक राजनैतिक जगत् है। इसमें प्राबल्य है गोरी जातियों का जो या तो यूरोपियन हैं जैसे इंग्लैण्ड, फ्रांस या जर्मनी; या यूरोपियन प्रवासियों की सन्तान हैं जैसे अमेरिका, आस्ट्रेलिया या अफ्रीका। इनका सायंस से कोई विरोध नहीं है। इन्होंने जानबूझ कर सायंस के विरोध को समाप्त कर दिया है।

परन्तु मुसलमान अब भी सायंस के विरोधी हैं। प्रकट रूप

में न सही, प्रच्छन्न रूप में। इसलिये जितने इस्लामी देश हैं जैसे अरब, मिश्र, अफ्रीका और पश्चिमी एशियाई प्रदेश, इन सब में सायंस के लिये कोई उत्साह नहीं है। इसलिये उन्नति की घुड़दौड़ में इस्लामी देश पिछड़े हुये हैं। यह बात नहीं कि इन देशों में सायंस का कोई प्रभाव नहीं हैं। सायंस के जितने आविष्कार हैं जैसे वाष्प, विद्युत इत्यादि उन सब का इन देशों में प्रवेश हो गया है, परन्तु सायंस का जो विरोध इनकी प्रकृति का अंश हो चुका है और जिसके लिये कुरान की शिक्षा और मुसलमानी विद्वानों के दृष्टिकोण उत्तरदाता हैं उनके चिन्ह सब मुसलमान देशों में मिलेंगे।

आर्य्य समाज ने कभी सायंस का विरोध नहीं किया। वेद और वैदिक युग के ऋषि मुनि तो सायंस के बड़े प्रेमी थे। यदि ऐसा न होता तो वे सार्वभौमिक (विश्ववारा) संस्कृति को विश्व-भर में फैला न सकते। परन्तु पिछले कुछ समय में और विशेष कर महाभारत के पश्चात् वैदिक संस्कृति का ह्रास हो गया और भ्राँति-पूर्ण धारणायें प्रबल हो गईं। इसके कारण भारत के धार्मिक क्षेत्रों में सायंस का विरोध हो गया। परन्तु आर्य्य समाज अपने जन्म दिवस से ही सायंस के प्रति विरोध को कम कर रहा है। आर्य्य समाज का विचार है कि सृष्टि ईश्वर की रचना है, और कुदरत के कानून ईश्वर के कानून हैं। सायंस वाले इन्हीं कुदरत के कानूनों का अन्वेषण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि सायंस-वेत्ता ईश्वर के कानूनों की

खोज करते हैं। सायंस-वेत्ता जब किसी नियम की खोज करता है तो वह उस ईश्वरीय नियम की खोज करता है जो अनादि काल से चला आ रहा था। केवल लोगों को उसका ज्ञान न था। कोई विज्ञान नया नहीं है। उसकी खोज नई है। इस प्रकार जब सायंस भी ईश्वरीय है और धर्म भी ईश्वरीय तो सायंस और धर्म का विरोध क्यों ? इस विरोध का कारण है सायंस और धर्म की वास्तविकता के ज्ञान का अभाव। धर्माध्यक्षों ने एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की है जो सृष्टि में उपलब्ध नहीं होता। सायंस-वेत्ताओं को ऐसे ईश्वर का विरोध करना स्वाभाविक था। यह विरोध धर्म का विरोध नहीं है अपितु मिथ्या और कपोल-कल्पित धर्म का विरोध है। उदाहरण के लिये आर्य समाज किसी ऐसे स्वर्ग या नरक को नहीं मानता जिसका कोई स्थान विशेष नहीं है और न उसकी खोज हो सकती है। मुसलमान लोग ऐसे स्वर्ग या नरक को मानते हैं जिसका कोई भौगोलिक (दैशिक) अस्तित्व नहीं।

———

दसवाँ अध्याय

मैं और अन्य जीव

हर मनुष्य का विश्वास है कि 'मैं हूँ'। 'मैं क्या था ?' यह पता नहीं। 'मैं क्या हो जाऊँगा ?' यह भी पता नहीं। परन्तु क्या मैं यह सोच सकता हूँ कि 'मैं पहले न था ?' क्या मैं यह सोच सकता हूँ कि 'भविष्य में न रहूँगा'। मैं अगर था नहीं तो कैसे और कहाँ से आ गया ? यदि मैं न रहूँगा तो कहाँ जाऊँगा। और कैसे न रहूँगा। ये प्रश्न हैं जो हर बुद्धिमान् मनुष्य के मन में उठते हैं। यदि मैं 'अभाव' से भाव में आया और फिर अभाव में विलीन हो जाऊँगा तो मेरा यह जीवन क्षणिक है। भले और बुरे का भेद समाप्त हो जाता है। मुसलमान होकर अभाव हुआ तो क्या और काफ़िर होकर हुये तो क्या ? मुसलमान मानते हैं कि ईश्वर ने जीवों को अभाव से भाव में लाकर उपस्थित कर दिया। क्यों ? किस प्रयोजन की पूर्ति के लिये ? मुसलमान इन प्रश्नों को पसन्द नहीं करते। प्रश्नों की उत्पत्ति इच्छा पर तो निर्भर नहीं। प्रश्नों का आधार है वास्तविकता। प्रश्न तो उठते हैं। हम उनके समाधान से घबरा कर सोचना बन्द कर देते हैं। परन्तु प्रश्नों का उठना

हमारी इच्छा के तो आश्रित है नहीं। प्रश्नों के उठने का आशय यह है कि कुछ आपत्तियाँ हैं जो हमारे समक्ष आ गई हैं और इनके निवारण की आवश्यकता है। चुपचाप बैठ जाने से तो कोई आपत्ति दूर नहीं होती।

आप किसी नगर के चौराहे पर खड़े हो जायँ और किसी मनुष्य को देखें कि बड़ी तेजी से भागा जा रहा है। आप उससे पूछें। 'तुम कौन हो?' वह उत्तर दे, 'मैं नहीं जानता'। 'आप कहाँ जायँगे?'। 'मैं नहीं जानता'। 'इतनी तेजी से दौड़ने को क्या जरूरत है?' 'मैं नहीं जानता'। ऐसे मनुष्य को आप क्या कहेंगे? 'पागल या बुद्धिमान्?' इसी प्रकार आप नहीं सोचना चाहते कि 'आप क्या हैं?'। नहीं जानना चाहते कि जन्म से पहले कहाँ थे? और कहाँ से आ गये?' नहीं सोचना चाहते कि मृत्यु के उपरान्त कहाँ जायेंगे? तो आप की बुद्धि पर शंका करना अनुचित तो नहीं है, और यदि धार्मिक लोगों का एक समुदाय ऐसे प्रश्नों से जी चुरावे तो उसके विषय में क्या कहा जाय? धर्म या मजहब तो इन्हीं प्रश्नों का समाधान करने के लिये है। केवल थोड़े से कृत्यों को कर लेना मात्र तो धर्म या मजहब नहीं है। धर्म का सम्बन्ध ईश्वर से नहीं है क्योंकि ईश्वर तो पूर्ण है। वह अपने नियमों का वशी है। 'इलहाम' (ईश्वर प्रदत्त ज्ञान) ईश्वर के लिये नहीं। मुलहिम या पैगम्बर भी उसके लिये नहीं। धार्मिक कृत्यों की व्यवस्था उसके लिये नहीं। यह सब मनुष्य के लिये है और मनुष्य को ही इन प्रश्नों

का समाधान करना है। मनुष्य का देह भी मनुष्य के आत्मा के लिये है। आत्मा देह के लिये नहीं। इसलिये हर मजहब (धर्म) का मुख्य प्रश्न जीव या आत्मा (रूह) है।

अब देखना चाहिये कि 'जीव' (रूह) के विषय में इस्लाम क्या विचार प्रस्तुत करता है। कुरान को देखिये और विद्वानों के भाष्य पढ़िये। सब से पहला मनुष्य 'आदम' था। आदम का शरीर तो मिट्टी से बना। परन्तु 'देह' मात्र का नाम तो मनुष्य नहीं। न मजहब की व्यवस्था उस मिट्टी के पुतले के लिये हो सकती है। वास्तविक आदम तो आदम का जीव (रूह) था। कुरान में लिखा है :—

नफ़ख़तु फीहे मिन् रूही।

"मैंने उसमें अपनी रूह में से फूंका।"

'रूही' शब्द का अर्थ है मेरी रूह। (सम्बन्ध वाचक) ऐसे कथन का अर्थ क्या है ? क्या ईश्वर का कोई जीव या आत्मा है जो उससे भिन्न है। या ईश्वर ही आत्मा है। यदि कोई अलग आत्मा था तो वह भी वाजिबुलवजूद या नित्य हो गया। और यदि ईश्वर स्वयं ही आत्मा था तो क्या ईश्वर ने उस सम्पूर्ण आत्मा को फूंक दिया या किसी एक अंश को ? यदि सम्पूर्ण आत्मा को फूंक दिया तो आदम ईश्वर हो गये। और यदि किसी अवयव को फूंका तो ईश्वर अवयवी अर्थात् कई टुकड़ों का संयोग सिद्ध हुआ। और आदम स्वयं अंशतः ईश्वर सिद्ध हुये। सोने का हर टुकड़ा सोना है और उसमें

सोने के सब धर्म पाये जाते हैं। इस प्रकार आदम ईश्वर के अवतार हुये। जैसे हिन्दुओं के राम और कृष्ण। आदम ईश्वर के सेवक न होकर स्वयं ईश्वर हो गये।

इतनी बात तो हुई 'आदम' के विषय में। क्या हव्वा (आदम की स्त्री) के शरीर में भी रूह फूंकी गई। हाबील और और काबील (आदम के दो लड़कों के नाम थे हाबील और काबील) के शरीरों में भी क्या रूह फूंकी गई। और क्या आजकल जो बच्चे उत्पन्न होते हैं उनके शरीरों में भी रूह फूंकी जाती हैं। यदि यह सब पूर्णतः अथवा अंशतः खुदा की रूहें हैं तो इनके लिये मजहब (धर्म) की क्या आवश्यकता! यदि हम लोगों की रूहें ईश्वर से इतर कोई वस्तु हैं तो हमको इस का ज्ञान होना चाहिये।

इन प्रश्नों से बचने के लिये कुछ लोगों का कहना है कि 'जीव क्या है?' इस उलझन में पड़ना व्यर्थ है। यह प्रश्न तो अनन्त काल तक भी ठीक न होंगे। मत पूछो कि 'हम क्या हैं?' केवल यह पूछो कि 'हमको क्या करना चाहिये।' परन्तु यह भोले आदमी भूल जाते हैं कि जब तक यह न ज्ञान हो जाय कि 'हम क्या हैं।' उस समय तक यह कैसे पता चलेगा कि 'हमारे कर्तव्य क्या हैं।' आचार शास्त्र से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न मनुष्यों के कर्तव्य भिन्न-भिन्न हैं। और एक व्यक्ति के कर्तव्य भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न हैं। एक रेल के टिकट-कलक्टर और एक जिलाधीश कलक्टर के

कर्तव्यों में अन्तर है। अतः 'मैं कौन हूँ।' इस प्रश्न की सुगमता से उपेक्षा नहीं की जा सकती। धार्मिक जगत का तो यह मुख्यतम प्रश्न है।

कुरान शरीफ में एक स्थान पर लिखा है कि रूह 'अमर-रब्बी' है। इससे ज्ञात होता है कि अरब के अशिक्षित लोग भी इस प्रश्न से अनभिज्ञ नहीं थे। वे इस प्रश्न को हजरत मुहम्मद साहब से पूछते होंगे। हजरत मुहम्मद साहब ने इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर न पाकर टालने की कोशिश की। और 'रूह' को 'अमर रब्बी' कह दिया। इसका साधारण अर्थ यह है कि रूह मेरे ईश्वर का एक हुक्म (आदेश) है। यह एक अर्थ-शून्य वाक्य है जो भाष्य-कारों के लिये एक दर्द सर हो गया है। भिन्न-भिन्न प्रकारों की व्याख्यायें की गईं हैं। 'अमर' आज्ञा है अथवा आज्ञा-कारी व्यक्ति? जब ईश्वर ने आदेश दिया तो अपने से इतर किसी सत्ता को दिया होगा। यह प्रश्न है और इस्लाम इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ है।

आर्यसमाज कहता है कि जीव ईश्वर से इतर एक चेतन सत्ता है। जो अल्पज्ञ और अल्प-शक्ति है। वह न ईश्वर है न ईश्वर का कोई अंश है। न ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। जीव के यह लक्षण मन गढन्त नहीं हैं। आप अपने ऊपर और दूसरे प्राणियों पर इस लक्षण को घटा सकते हैं

अब अपनी सत्ता पर विचार कीजिये। अर्थात् अपने 'जीव'

(आत्मा) पर। आप पत्थर के समान जड़ वस्तु तो हैं नहीं। आप चेतन हैं। आप में बुद्धि है। आप में इच्छायें हैं। राग और द्वेष है। सुख और दुःख की अनुभूति भी है।

परन्तु आपका ज्ञान भी अल्प है और बुद्धि भी अल्प है। सुख दुःख भी अल्प है। सब मनुष्यों की न बुद्धि समान है, न विद्या, न शक्ति। न सुख, न दुःख। स्वयं आप में भी बुद्धि, विद्या, राग, द्वेष, सुख-दुःख में न्यून अधिक होता रहता है। मजहब या धर्म का काम यह है कि आप के इन परिवर्तनशील गुणों को एक मर्यादा के भीतर रक्खे। उदाहरण के लिये, आप की इच्छायें कभी इतनी न बढ़ जायँ कि कभी आप इनको पूरा न कर सकें। न यह इच्छायें इतनी घट जायँ कि आपको अपनी आवश्यकताओं की भी अनुभूति न हो। आपको द्वेष तो हो परन्तु अधर्म या बुरी बातों से। हर चीज से राग या हर चीज से द्वेष पागलपन है। आप के कर्म आपके ज्ञान के अनुकूल हों। आपका ज्ञान आपके कर्मों का नेतृत्व करें। ज्ञान और ज्ञान की इच्छा की भी मर्यादा है। यदि आप अपने सिर के बालों को गिनने में लग जायँ तो शायद आपको इतना सन्तोष हो सके कि आपके सिर के बालों की संख्या का ज्ञान है। परन्तु इस ज्ञान से आपके कर्म में क्या सहायता मिलेगी। सैकड़ों कर्त्तव्य पालन करने से छूट जायेंगे। इसी प्रकार यदि आपने अपने कर्म में ज्ञान की सहायता न ली तो अन्धे के समान गढ़े में गिर जायेंगे।

अब आप समझ गए होंगे कि आपके धर्म का सम्बन्ध आपके गुणों से है। यदि आप अपने व्यक्तित्व के गुणों से अभिज्ञ नहीं तो उलटे मार्ग का अवलम्बन कर सकते हैं। इससे आपकी उन्नति में रुकावट होगी। अब आप एक मोटा उदाहरण लीजिए। संस्कृत में वासना को काम या कामना कहते हैं—यह मनुष्य के मन की एक प्रवृत्ति है। इसको नियंत्रण में रखने से सांसारिक कार्यों को सफलता के साथ करते हुए भी आपकी आत्मिक शक्ति में वृद्धि होती है। सबसे अधिक शक्ति वाला मनुष्य वह है जो अपने मन को वश में रखता है। मन का दास दुनिया भर का दास है। धर्म यह सिखाता है कि वासना को वश में रखो। यह काम का भाव आत्मा में आने न पावे। अब अगर आप बहिश्त की हूरों पर लट्टू होकर नमाज और रोजे रखते हैं तो आप मन के दास हो जाएंगे। इस्लाम ने बहिश्त के बहुत से प्रलोभनों को देकर लोगों को भड़का दिया है।

१—जाहिद को कौन कहता है यह हक परस्त है।
हूरों पे मर रहा है यह शहवत परस्त है॥

२—ईश्वर-भक्त दुनियदार होते हुए भी ईश्वर-भक्त है। वह रोटी खाता है केवल शारीरिक भूख को दूर करने के लिए। उसकी दृष्टि ईश्वर पर होती है। वह संसार को देखता है परन्तु उसे जगत के भीतर ईश्वर का प्रकाश दीखता है।

हर इक वर्ग शाहिद है अज़मत की तेरी।
हर इक गुल में तुझको खिला देखते हैं।
निहाँ है ज़र्रे-ज़र्रे में अयां है ज़र्रे-ज़र्रे से।
मुनव्वर पर्दा है पर्दा नशीं के रुये रोशन से॥

परन्तु जो मनुष्य शहवत परस्त (कामासक्त) है वह ईश्वर की उपासना भी इसीलिए करता है कि उसकी काम-पूर्ति के साधन सुगमता से उपलब्ध हो जायँ। उसकी वहिश्त की इच्छा उसकी कामाग्नि को बुझाने के स्थान में अधिक प्रज्ज्वलित करती है। यदि जीवात्मा कामासक्त रहा और हूरों का ध्यान करते हुए मरा तो उसको निजात या मोक्ष कहना अनुचित होगा क्योंकि शहवत की गुलामी से और कोई बड़ी गुलामी है नहीं। आर्य समाज और इस्लाम के मन्तव्यों में यह इतना बड़ा अंतर है और यह अंतर इतना महत्वपूर्ण है कि हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

आवागमन या पुनर्जन्म

हमारे जीव के साथ ही आवागमन या पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रश्न है। यह स्वाभाविक प्रश्न पिछले अध्याय में उठाया गया था कि जीव नित्य है या अनित्य अर्थात् क्या जीव की कभी उत्पत्ति हुई या जीव कभी उत्पन्न नहीं हुआ। यदि उत्पन्न हुआ है तो नाशवान भी होगा। जो उत्पन्न हुआ है वह अमर नहीं हो सकता है। जो अनादि है वही अमर है। अजन्मा और अमर पदार्थ संयुक्त नहीं हो सकते। असंयुक्त या एकाकी होंगे। क्योंकि संयुक्त होने के लिए संयोजन चाहिये और संयोजन के लिए आरम्भ चाहिए। संयुक्त पदार्थ अपनी संयोजन अवस्था को बदलते रहते हैं। जो एक है वह एक ही रहता है। परिणाम अवयवों के क्रम के बदलने से होता है। भिन्न-भिन्न अवयवों का घटना बढ़ना या क्रम बदलना ही परिवर्तन है।

जीव यदि उत्पन्न हुआ तो नाशवान भी होगा। अगर जीव नाशवान है तो नरक (दोजख) में जाने वाली आत्माओं का भी अन्त होगा और बहिश्त में जाने वाली आत्माओं का भी

अन्त होगा। इसलिए कुरान शरीफ में कई जगह जो यह लिखा है कि दोजख में अनंत काल (खालिदून) रहेंगे यह ग़लत है। अगर दोनों प्रकार के जीवों का अंत होना है तो परिणाम एक सा ही हुआ। मुसलमान और काफिर दोनों अभाव को प्राप्त हो गए। यही उनकी मोक्ष का वास्तविक स्वरूप होगा। रोग के साथ साथ रोगी का भी अंत हो जायगा। यदि जीवात्मा अजन्मा और अनन्त है, तो जीव का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से जन्म पहिला और मृत्यु दूसरा सिरा है। जन्म और मरण जीव के व्यक्तित्व के सिरे नहीं। हर प्राणी के लिए यह प्रश्न उठता है कि उत्पत्ति के पहिले वह कहाँ था और मौत के बाद कहाँ जाएगा। कोई दो वर्ष दुनियाँ में रहता है और कोई अस्सी वर्ष। कोई उत्पन्न होते ही मर जाता है। यह अल्प कालीन जीवन जीव की नित्यता से संगति नहीं खाता। इसलिए मानना पड़ेगा कि यह अल्पकाल जिसको हम जीवन या आयु कहते हैं केवल शारीरिक संबंध की आयु है, जीव के स्वरूप की नहीं। इस शारीरिक आयु की भी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। यदि आप मुझसे पूछें कि तुम्हारी आयु क्या है तो मेरे लिए ठीक उत्तर देना सुगम नहीं। मेरी आखों की वही आयु नहीं है जो मेरे दाँतों की है। मेरी मूंछ और दाढ़ी की उमर तो और भी कम है। मेरा रक्त, मेरा मांस, मेरे रोग सदा बदलते रहते हैं। इन सब की गिनती शरीर के अन्तर्गत है। वैद्यक शास्त्र के पंडित बताते हैं कि एक नियत

काल के बाद हमारे शरीर का हर परमाणु बदल जाता है।

आर्य समाज का सिद्धान्त है कि जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न भाग पृथक-पृथक बदलते रहते हैं इसी प्रकार समस्त शरीर भी बदल कर नया हो जाता है। कुदरत एक सीमा तक रफू करती है। जब रफू करने से काम नहीं चलता तो समस्त देह रूपी वस्त्र बदल दिया जाता है। पुराने कपड़े उतार कर नए पहिन लिए जाते हैं। इसी का नाम है जन्म। जब इस शरीर को उतार कर फेंक देंगे तो इसी का नाम होगा मृत्यु। इसी तरह मौत के बाद जन्म और जन्म के बाद मौत होगी। इसी का नाम है आवागमन, पुनर्जन्म (तनासुख)।

इस्लाम तनासुख को नहीं मानता परन्तु जिन कारणों से आर्य समाज पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने के लिए बाध्य है उन कारणों के समाधान का कोई उत्तर इस्लाम के पास नहीं है। वह यह नहीं बता सकते :—

१—जन्म के पहिले जीव कहाँ था? इस दशा को कैसे प्राप्त हुआ?

२—यदि शारीरिक जीवन केवल अल्पकालीन है और वह एक ही है तो शेष काल में जीव क्या करता है?

३—भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न अवस्था में क्यों पैदा होते हैं? कोई अमीर, कोई गरीब; कोई सुखी और कोई दुखी; कोई दीर्घायु और कोई अल्पायु। न्यायकारी ईश्वर इस असमानता को कैसे सहन करता है? और न्यायशील धर्मा-

व्यक्त कैसे इस सिद्धान्त पर विश्वास रखते हैं ? इन मौलिक प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य गौण प्रश्न भी हैं। जिनका समाधान करना हर धर्म के लिए आवश्यक है।

यह ठीक है कि इन प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धि चाहिए परन्तु विना बुद्धि के विद्या संभव नहीं। विद्या के न होने से अविद्या रहती है, और विद्या के विना ठीक कर्म नहीं होता। मुसलमानों का दावा है कि इस्लाम के प्रकाश ने अविद्या रूपी अन्धकार के युग को समाप्त कर दिया। परन्तु वह रोशनी कहाँ है और उसने इस अविद्या को क्यों रहने दिया। तमाशा यह है कि इस्लाम के विद्वानों ने तनासुख (आवागमन) को अस्वीकृत करके कुरान के उन वाक्यों को भी भुला दिया जिनमें आवागमन के सिद्धांत का स्पष्टता से वर्णन है। हम यहाँ कुछ आयतें पेश करते हैं—

(१) *अला अन् तुबद्दिल अमूसालकुं व नुन्शियकुं*

फ़मा लाता क़िल्मून। (सूरा वाक़िआ आयत ६१)

अनुवाद :—कि तुम्हारे समान और लोग तुम्हारे स्थान में ले आवें और तुमको ऐसे स्थान में उत्पन्न करदें जहाँ तुम नहीं जानते।

(२) *युहयी व युमीतु।* (सूरा तोबा आयत ११६)

वह जिलाता और मारता है।

(३) *इन्न ज़ालिक ल मुहीअल् मौता।* (सूरा रूम आयत ५०)

वह अवश्य ही मरों को जिलाने वाला है।

(४) अल्लज़ी युहीउ व युमीतु । (सूरा बकर आयत २५०)

वही जिलाता और मारता है।

(५) फ़ अयातहू अल्लाहु मिअतन् आमिन् सुम्म बअसहू ।

(सूरा बक़र आ० २५६)

अल्लाह ने उसे सौ साल तक मरा रक्खा फिर जिला दिया।

(६) तुख़रिजुल हय्य मिनल्मीते व तुख़रिजल्मीत मिनल हय्य । (सूरा आल अमरान् आ० २६)

वह मुर्दे से जिलाता है और जिन्दा से मारता है।

कुरान शरीफ के इन वाक्यों से स्पष्ट है कि यदि पुनर्जन्म के सिद्धांत को न माना जाय तो इन आयतों का कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता है। जब यह आयतें लिखी गईं उस समय अरब के वातावरण में पुनर्जन्म संबंधी विचार फैले हुए थे। जिनको या तो हजरत मुहम्मद साहब ने अपनी दृष्टि से ओझल कर दिया या उनके बाद इस्लाम के विद्वानों ने अपने अज्ञान के कारण इन आयतों की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें आरम्भ करदीं और आजकल के मुसलमान विद्वान् भी उसी लकीर को पीटते चले आते हैं।

एक मुसलमान मित्र लिखते हैं कि भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न प्राणियों के भिन्न-भिन्न गुणों को देखकर तुम पुनर्जन्म को सिद्ध करते हो यह ठीक नहीं। उन्होंने ज़ौक का एक शैर लिखा है—

ए ज़ौक उस जहाँ को है ज़ेब इख़्तलाफ से ।

अर्थात् सृष्टि की विभिन्नता का प्रयोजन शोभा है। जैसे

किसी बाग में एक ही प्रकार का गुलाब हो तो बाग की शोभा कम हो जायेगी। इसलिए सैकड़ों प्रकार के फूल उगाए जाते हैं। इसी तरह यदि संसार के सब मनुष्य या सब प्राणी एक ही योग्यता के उत्पन्न होते तो दुनियाँ सुन्दर न मालूम होती। इसलिए हर पदार्थ के गुण भिन्न-भिन्न हैं। यह युक्ति कहाँ तक सुसंगत है ?

क्या संसार की विभिन्नता का प्रयोजन शोभा मात्र है ? जौक साहब ने विभिन्नता की अन्यान्य अवस्थाओं पर विचार नहीं किया, अन्यथा उनकी सम्पूर्ण शोभा मिट्टी में मिल जाती। सौ बच्चे पैदा होते हैं—कई अन्धे, कई लूले, कई लँगड़े, कई काहिल, कई बुद्धू, कई बुद्धिमान, कई स्वस्थ, कई सुन्दर आँखों वाले, कई भीषण रोगों में तड़प तड़प कर मर गए। क्या तड़पने वाले लँगड़े और अंधे दुनिया की शोभा बढ़ाने के लिए हैं ? यह सब चेतन हैं। सुख और दुख का अनुभव करते हैं। यह केवल अचेतन जड़ कुर्सी मेज या भिन्न-भिन्न फूलों की आकृति के समान भिन्नता नहीं रखते। वह ईश्वर कितना निर्दयी होगा और उसकी सौन्दर्य की भावना कितनी अनिष्ट होगी जो जीवन के कष्टों को शोभा समझता है। यदि सब चीजें भिन्न-भिन्न आकृति की होतीं तो उस सबको बराबर और समान सुख होता। दुख लेश मात्र न होता तो हम उसको सौन्दर्य कह सकते थे। किसी अस्पताल में चले जाइये और उसके सौन्दर्य को देखिये। भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगी, भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग,

भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्ट। इसको आप शोभायमान स्वर्ग कहेंगे या दोजख। यह अजब खुदा है जो अपने सौंदर्य की भावना को पूरा करने के लिए इतने प्राणियों को तड़पाता है। इसीलिए नास्तिक लोगों का कहना है कि यदि परमात्मा दयालु होता तो ऐसे दुख पूर्ण जगत को न बनाता।

आर्य समाज का सिद्धांत है कि यह लँगड़े-अन्धे या दुखी लोग अपने पिछले जन्म के पापों के कारण हैं। जैसे जेलखाने में भिन्न-भिन्न प्रकार के कैदी जेलखाने के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए नहीं अपितु अपने अपराधों के कारण हैं। खुदा ने हजरत मुहम्मद साहब को पैदा किया और अबूलहब को भी।

क्या यह भिन्नता सौन्दर्य के लिए थी? या इस भिन्नता के कारण उनके पहिले जन्म के कुछ काम थे। आप तनासुख न मानिये परन्तु और उत्तर भी तो हो। यदि जेलखाने के कैदियों का कारण कैदियों के अपराध नहीं अपितु सरकार की मर्जी है तो अँधेर नगरी का दृष्टांत लागू होगा। पुनर्जन्म का सिद्धांत यथार्थ होने के अतिरिक्त कितना संतोषजनक है इसकी मैं एक मिसाल देता हूँ। कुछ मुसलमान दोस्त बैठे हुए थे। मैंने उनको अपनी रची हुई एक कविता सुनाई—

हो गया तार-तार कोहना लिबास,
अब रफूगर भी हमसे आरी है।
क्या कहें किस तरह गुजरती है,
जामये नौ की इंतजारी है॥

मुसलमान मित्र इन पदों को सुनकर फड़क उठे और बोले कि आपका वह सिद्धांत कितना सन्तोष-जनक है। मेरा यह कहना है कि मुसलमान लोग भी इस सन्तोष को उपलब्ध कर सकते हैं यदि संकुचित दृष्टि को छोड़ दें। जो आँखे खोलेगा सूरज उसकी मदद के लिये तैयार है। विचित्र बात यह है कि कुरान शरीफ में एक शब्द भी ऐसा नहीं है जिसमें पुनर्जन्म का स्पष्ट विरोध हो और अगर कोई मुसलमान पुनर्जन्म को मानने लगे तो वह इस्लाम के किसी मौलिक सिद्धांत का विरोध नहीं करता। एकेश्वरवाद, कुरान शरीफ, मुहम्मद साहब का पैगम्बर होना, और कयामत यह मौलिक सिद्धांत पूर्ण रूप से सुरक्षित रहते हैं। और पुनर्जन्म का सिद्धांत इन सिद्धान्तों को प्रबलता देता है। इस्लाम के आरम्भिक इतिहास से पता चलता है कि कुछ मुसलमान विद्वान् और उनके शिष्य आवागमन को मानते थे। पीछे से वह समुदाय मुसलमानों के पक्षपात के शिकार हो गये। और अब तो यह फैशन हो गया कि इस्लाम में पुनर्जन्म का सिद्धांत अमाननीय है।

एक मुसलमान मौलवी आक्षेप की भावना से मुझसे पूछते थे कि क्या आपको पूर्ण विश्वास है कि मृत्यु के पीछे दूसरा जन्म मिलेगा? परन्तु ऐसा सवाल करने वाले अपने से यह नहीं पूछते कि क्या वह मरने पर कब्र में जिस्म के साथ जाएँगे या बहिश्त में भेज दिये जाएँगे या नरक में। कयामत के दिन तो बहुत दिनों में आयेंगे। हजरत आदम से लेकर असंख्य

मनुष्य मर चुके हैं पैगम्बर भी और साधारण अनुयायी भी
काफ़िर भी और मौमिन भी। बहिश्त और दोज़ख में जाने का
सवाल तो कयामत के दिन ही निश्चित होगा। आज हाबील
की रूह कहाँ हैं और काबील की कहाँ हैं। हज़रत मूसा की
कहाँ और फिरौन की कहाँ। हजरत मुहम्मद साहब की कहाँ
और अबूलहब और उसकी बीबी की कहाँ। आर्य समाज
इनका संतोषजनक समाधान देता है परन्तु मुसलमान दोस्तों
के सामने एक बड़ी रुकावट है जो उनको असमंजस में डालती
है। न कहते बनता है और न कहलाते बनता है।

———

बारहवाँ अध्याय

जीव हत्या

—•—

रामपुर से निकलने वाले इस्लामी मासिक पत्र 'कान्ति' में अक्टूबर १९६६ ई० के अंक में जीव हत्या शीर्षक एक लेख है। उसके आरम्भिक शब्द ये हैं :—

'यों समझिये कि इस्लाम की हर-हर बात उत्तम है मान लिया, पर, इस्लाम ने 'जीव हत्या' की जो इजाजत दी है वह उसकी तमाम अच्छाइयों पर पानी फेर देती है। हमें माँस खाने से घृणा है इसलिये हमारा विचार है कि माँस खाने की इजाजत देने वाले धर्म इस्लाम ने अपने मानव स्वभाव के प्रतिकूल ही होने का परिचय दिया है'।

इस्लामी विद्वान् लेखक ने इस आक्षेप का यह उत्तर दिया है :—

१—इस्लाम ने मनुष्य को इस सृष्टि में जो हैसियत दी है वह यह है कि वह सृष्टि के रचयिता की सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसी के लिए ही इस पूरी सृष्टि की रचना की गई।

२—जब ये तमाम चीजें उसी के लिए हैं और उन पर

वह पूरा-पूरा अधिकार रखता है तो जैसे वह जिन्दा रहने के लिए हवा और पानी का इस्तेमाल करता है, भोजन के तौर पर दूसरे साग सब्जी आदि का प्रयोग करता है, आने-जाने के और चलने फिरने में जानवरों से काम लेता है, ठीक वैसे ही भोजन के तौर पर खाने पौष्टिक पदार्थ का सेवन करने और जरूरत पड़ने पर जानवरों को मन चाहे इस्तेमाल करने का उसे अधिकार होना चाहिए, इसी का मानव स्वभाव और इतिहास गवाह है और यही अक्ल भी कहती है।

यह दो वाक्य समस्त शेष युक्ति के आधार हैं इसलिए इनकी ही परीक्षा आवश्यक है। प्रश्न यह है कि ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना मनुष्य है या जीव। और सारी सृष्टि का प्रयोजन मनुष्य क्यों है? क्या मनुष्य की श्रेष्ठता की यही कसौटी है कि वह शेष सृष्टि का उपभोक्ता हो? यदि ऐसा हो तो जितने भोगने वाले प्राणी हैं वही श्रेष्ठ होंगे। भेड़िया मनुष्य से भी श्रेष्ठ होगा, बिल्ली चूहे से श्रेष्ठ होगी और मनुष्य में सबसे श्रेष्ठ मनुष्य वह कहलायेगा जो क्रूरतम हो। इस्लाम ने मनुष्य को तो महत्व दिया परन्तु मनुष्यता को महत्व नहीं दिया। महान् वह मनुष्य है, उनकी दृष्टि में, जो अन्य मनुष्यों या पदार्थों को मनमाने तौर पर उपयोग कर सके। अन्य सृष्टि का प्रयोजन तो यह लोग मनुष्य को मानते हैं अर्थात् जितनी चीजें बनाईं वह सब मनुष्य के लिए बनाईं। परन्तु मनुष्य किसके लिए बनाया इस पर तो वे विचार ही नहीं करते। यह भी कहना

गलत है कि सारी सृष्टि मनुष्य के लिए बनाई। इस भूमंडल पर सहस्रों ऐसे स्थान मिलेंगे जहाँ लाखों प्राणी रहते हैं परन्तु मनुष्य नहीं रहता और न उसे पता है।

समुद्र की मछलियाँ असंख्य हैं। क्या वह मनुष्य के लिए बनाई गई हैं ? शेर से पूछो तो वह यह कहेगा कि सृष्टि में सबसे श्रेष्ठ मैं हूँ। यह मनुष्य आदि क्षुद्र जीव तो मेरे खाने के लिये हैं। इसलिए इस्लाम के विद्वानों की सबसे बड़ी गलती यह है कि वह मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य असंख्य जीवधारियों के जीवत्व पर विचार नहीं करते और सबको जीव शून्य जड़ समझते हैं। हमने अपनी पुस्तक मसावीहुल इस्लाम में इस पर विस्तारपूर्वक विमर्श किया है। कुरान शरीफ की आयतों से भी यह पता चलता है कि प्रत्यक्ष रूप में न सही परोक्ष रूप में कुरान में शहद की मक्खी आदि के दृष्टांत देकर यह सिद्ध किया है कि जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, ज्ञान और प्रयत्न मनुष्य के जीव के लक्षण हैं वही कीट-पतंग आदि में भी पाये जाते हैं। यही नहीं कुरान तो एक पग और आगे बढ़ गया है। वह जानवरों को मनुष्य की तरह हैवान नातिक (भाषा बोलने वाला प्राणी) मानते हैं क्योंकि कुरान में लिखा है कि हजरत सुलेमान सब जानवरों की बोलियाँ समझते थे। ऐसी दशा में मनुष्येतर प्राणियों में जीव न मानना इस्लाम की एक बड़ी भारी गलती है और इसीलिए दया का वह भाव मुसलमानों में पाया नहीं जाता जो हिन्दुओं में पाया जाता है। दया का

सम्बन्ध तो उन्हीं व्यक्तियों से है जिनको हम सुख या दुख पहुँचा सकते हैं, जड़ वस्तुओं से नहीं। हम कुत्ते पर दया भी कर सकते हैं और निर्दयता भी। परन्तु पत्थर के टुकड़े के साथ न दया की जा सकती है और न निर्दयता। क्रान्ति के लेखक ने भी दया के नैसर्गिक भाव की उपेक्षा नहीं की। वह लिखते हैं कि :—

(१) साथ ही यह भी याद रखने की चीज़ है कि इस्लाम ने जीव हत्या की इजाजत भर दी है, जानवरों के साथ क्रूरता, निष्ठुरता और कठोरता का व्यवहार करने से सख्ती से मना कर दिया है।

(२) इससे भी उसका यह दृष्टिकोण साफ झलकता दिखाई देता है कि 'हत्या हत्या के लिये' या 'हत्या मन बह-लाव के लिये' नहीं होनी चाहिए, हत्या जरूरत पड़ने पर जरूरत पूरी करने के लिए होनी चाहिए।

(३) जहाँ जानवरों पर दया दर्शाने की बातें इस तरह की गई हैं कि उन पर दया करो, उनके खाने पीने का पूरा और उचित प्रबंध करो, उन्हें बेवजह मारो पीटो नहीं, उनसे उनकी ताक़त से ज्यादा काम न लो, उनके अंगों को उनके जीते जी मत काटो या तोड़ो आदि, वहीं जानवरों को जिब्ह करते समय भी दया दर्शाने का हुक्म दिया गया है ताकि प्राण दे रहे जानवर का प्राण जल्दी निकले और अधिक कष्ट न हो। जैसे तेज छुरी से जिब्ह करने का हुक्म दिया गया, जानवर क

पहले से पेट भर देने और उसकी प्यास बुझा देने का आशदे जारी किया गया आदि ।*

समीक्षा—जादू वह जो सर पर चढ़ कर बोले। ऊपर के उद्धरण जो न केवल 'कांति' के सम्पादक के विचार हैं अपितु सब मुसलमान विद्वान् इसमें साझीदार हैं। यह प्रकट करते हैं कि लेखक के हृदय में जीवों के लिए दया का भाव है। वह पशु-पक्षियों को सजीव भी मानता है और उनको दुख से बचाने या कष्ट को अत्यन्त कम करने की भावना भी रखता है। परन्तु इस स्वाभाविक दया-शीलता के साथ-साथ वह मुसलमान भी हैं। इस्लामी भावनाएँ उसे न तो यह आज्ञा देती हैं कि वह सब जानवरों को सजीव माने और न मांस भक्षण को पाप समझ सकता है। अतः इस द्वन्द में क्या करे। आक्षेप से निकल भागना तो चाहता है परन्तु मार्ग नहीं मिलता। मिले भी कैसे? मुसलमानी विद्वानों में प्रथाओं की कुछ ऐसी गहरी लकीरें बना दी हैं कि उनसे निकलना कठिन है। भला प्राण दण्ड से भी अधिक कोई दुख हो सकता है।

आगे चलकर लेखक ने मुसलमानी जिब्ह की प्रथा और सिखों की झटके की तुलना की है। 'जिब्ह' इस्लाम की एक परिभाषा है। इससे तात्पर्य हलक़ (गर्दन) का उतना हिस्सा काट देना है जिससे शरीर का खून निचुड़ कर अच्छी तरह निकल जाये।*

---

* कांति अक्टूबर पृष्ठ २०।

इसका अर्थ यह हुआ कि खून से परहेज है खून बहाने से नहीं और न जीव को कष्ट देने से। ऐसी ऊटपटांग दलीलें मुसलमान विद्वानों ने अपने मिथ्या-सिद्धांतों को पुष्ट करने के लिए बना रखी हैं जो एक धक्के से ही लँगड़ी या लूली सिद्ध हो जाती हैं। हम यह मानते हैं कि आजकल अधिकतर मनुष्य मांसाहारी हैं और हत्यारे हैं। साथ ही चोरों और झूठ बोलने वालों का भी आधिक्य है। अतः कोई सिद्धांत इसलिए अच्छा नहीं है कि उसके मानने वाले बहुत हैं। हम इससे भी इनकार नहीं करते कि हिन्दुओं में देवी-देवताओं की पशु-हत्या हुआ करती थी या हुआ करती है। परन्तु हिन्दू, शिक्षा के लुप्त होने के कारण, यह समझ बैठा है कि जिन पशुओं की बलि दी जाती हैं वे स्वर्ग को जाते हैं। उनके कई देवते बड़े क्रूर और निर्दयी हैं जैसे काली माई जो बकरे का मांस पसंद करती है। परन्तु ईश्वर को एक मानने वाले और उसको रहीम और रहमान कहने वाले मुसलमान ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये हर ईद के दिन करोड़ों जानवरों का वध कर देते हैं। यह किस आव-आवश्यकता को पूरा करने के लिए। अल्लाह को स्वादिष्ट भोजन पहुँचाने के लिए; या जानवरों को बहिश्त पहुँचाने के लिए; या अपने स्वार्थ के लिए।

कुर्बानी का सिद्धांत भी इस्लाम की अच्छाइयों पर पानी फेर देता है; क्योंकि किसी भावना से कुर्बानी की जाए इसकी चोट तो बिचारे निर्दोष जानवरों पर ही पड़ती है। खिला-पिला

कर मारो या भूखा रख कर मारो। मारना तो है ही। और मारना निर्दयता है। कहते हैं कि इब्राहीम ने अपने पुत्र इस्माइल की कुर्बानी की थी। की होगी। और किस भावना से की होगी हम इस बहस को छेड़ना नहीं चाहते। परन्तु इस प्रथा का अनुकरण तो मुसलमानों की दया-शून्यता का एक प्रबल और साक्षात् प्रमाण है।

'कुर्ब जिससे हो ख़ुदा का वही कुर्बानी है।
कुश्तनें नफ़्स हो खूरेज़िये हैवान न हो।।'

[कुर्बानी वह है जिससे ईश्वर का सामीप्य प्राप्त हो। आत्म-त्याग हो जीव-हत्या न हो]

कुछ लोगों का विचार है कि जीवन-निर्वाह के लिए प्राणियों को कुछ न कुछ कष्ट देना ही पड़ता है परन्तु प्रवृत्तियाँ तो दो प्रकार की हैं—एक तो पापों को कम करने की और दूसरी पापों को बढ़ाने के लिए बहाना ढूँढ़ने की। जो दयावान हैं वे सदा यत्न करते हैं कि यदि किसी को कष्ट भी देना पड़ जाय तो वह कम से कम हो। कुछ लोग पापों को मनमाने रूप से करने के लिए बहाना तलाश कर लेते हैं। करोड़ों मनुष्य हैं जिन्होंने कभी मांस नहीं खाया और उनका निर्वाह होता रहा। इसी प्रकार यदि माँस खाने वाली जातियाँ माँस छोड़ दें तो जीवन यात्रा के अन्य उपायों को ग्रहण कर सकती हैं। परन्तु जब अनायास जानवर खाने को मिल जाते हैं तो क्यों अन्य उपाय सोचें जायँ। जो जातियाँ दयाशील हैं वे गाय और

बकरियों से दूध दही प्राप्त करती हैं। इससे लोक भी बनता है और परलोक भी। जीवन भी मजे से कटता है और निर्दयता का दोष भी नहीं लगता। जिनमें दया की भावना नहीं है वही हितकारी जानवरों को खा जाते हैं। इससे अधिक कृतघ्नता क्या हो सकती है। जिसका दूध पीवें उसके प्रति मातृ-प्रेम का भाव होना चाहिए न कि उसे मार कर खा जायँ। यह माना बहुत से पशु हिंसक हैं परन्तु मनुष्य को हिंसक पशुओं का अनुकरण करके पशु बनना तो ठीक नहीं है। इस्लाम ने दो बड़ी गलतियाँ की हैं—

(१) एक तो पशु-पक्षियों में जीव नहीं माना।

(२) दूसरे दया के भाव को ठीक-ठीक नहीं समझा।

———

तेरहवाँ अध्याय

शुद्धि

'शुद्धि' एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है कि अपवित्र को पवित्र बनाना। हाथ मुँह धोना, स्नान करना इत्यादि दैनिक शुद्धि के रूप हैं। यदि कोई मनुष्य किसी विशेष अधर्माचरण या पतित विचारों के कारण अपवित्र हो जाय तो प्रायश्चित्त आदि कृत्यों द्वारा उसको शुद्ध कर लिया जाता है। यह शुद्धि की प्रथा उन जातियों पर भी लागू होने लगी जो सामूहिक रूप से कोई दुष्कर्म करने लगे। जैसे मांसाहार, मद्य-पान, व्यभिचार आदि।

यह शुद्धि की प्रथा वैदिक धर्म में आदि काल से ही चली आती है। जब सम्प्रदाय नहीं थे तो शुद्धि एक साधारण कार्य समझा जाता था। प्रायश्चित की भिन्न-भिन्न प्रथायें हमारी प्राचीन स्मृतियों में वर्णित हैं। शुद्धि का एक विशेष रूप हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष से आरम्भ होता है। शुद्धि एक साधारण प्रथा थी परंतु वर्तमान युग के राजनैतिक विप्लवों ने शुद्धि को एक उग्र रूप दे दिया और शुद्धि हमारे राजनैतिक नेताओं की दृष्टि में हिन्दू-मुस्लिम के विरोध को बढ़ाने वाली समझी गई। आर्य समाज

इसके लिए दोषी ठहराया गया और आर्य समाज को यह दोष स्वीकार कर लेना चाहिए। परन्तु देखना यह है कि क्या आर्य समाज दोष से बच भी सकता था अर्थात् शुद्धि कड़वी अवश्य थी परन्तु घातक रोग की चिकित्सा मात्र थी।

यह घातक रोग क्या है? इस रोग को हिन्दू-मुसलमान तथा अन्य विचारक न्याय की दृष्टि से देखें। आर्य समाज के जन्म से पूर्व स्थिति यह थी कि मुसलमान हमेशा से अपना यह अधिकार समझता आ रहा है कि वह दूसरे धर्मों के लोगों को उनका धर्म छुड़ाकर मुसलमान बनावे। हजरत मुहम्मद साहब ने भी ऐसा ही किया और उनके अनुयायी बारह शताब्दियों तक ऐसा ही करते रहे। इतने मात्र से ही मुसलमानों ने यह भी अपना अधिकार समझा कि यदि कोई एक बार मुसलमान होकर फिर अपने पुराने धर्म में चला जाये तो उसको कड़ा दण्ड देना चाहिये। इसका नाम उन्होंने अरबी में *फ़ितनए इर्तदाद* अर्थात् परिवर्तन-विद्रोह के नाम से पुकारा है। खलीफ़ा अबूबकर के जमाने में जब अरब के कुछ मुसलमानों ने एक बार मुसलमान होकर फिर अपने पुराने धर्म में लौट जाना चाहा तो सेनाएँ भेजकर उनको दण्ड दिया गया। यही प्रथा भारतवर्ष में भी रही। भारतवर्ष में हिन्दू लोगों ने इस प्रथा को एक विचित्र रूप से सम्पुष्ट कर दिया। हिन्दुओं की प्रवृत्ति मुसलमानों की प्रवृत्ति से सर्वथा विरुद्ध थी। मुसलमान एक बार मुसलमान होकर फिर वापस नहीं जा सकता था। हिन्दू एक

वार गैर-हिन्दू होकर फिर वापिस नहीं आ सकता था। मुसलमानी चूहेदानी में चूहा अन्दर जा सकता था। बाहर नहीं निकल सकता था। हिन्दू चूहेदानी में हिन्दू बाहर जा सकता था पर भीतर नहीं घुस सकता था। हिन्दू पंडितों की धारणा थी कि जो हिन्दू एक वार पतित हो गया वह तो दूसरे जन्म में ही हिन्दू बन सकता था, इस जन्म में नहीं। इसका कई सौ वर्ष तक मुसलमानों ने लाभ उठाया। हिन्दुओं का बहुत बड़ा भाग मुसलमान हो गया। धार्मिक विचारों के कारण नहीं, न शास्त्रार्थों के कारण। किसी ने मुसलमान के हाथ का पानी पी लिया, किसी ने मुसलमान के हाथ का छुआ खाना खा लिया तो मुसलमान हो गया; किसी ने मुसलमान स्त्री से संबंध कर लिया तो मुसलमान हो गया। इसके लिए मुसलमान मौलवियों को कोई कोशिश भी नहीं करनी पड़ती थी, क्योंकि हिन्दू तो ऐसी भूल करने वालों को घर से निकाल देता था; और सिवाय मुसलमान हो जाने के उसके लिए चारा नहीं था।

मुसलमान बढ़े तो उनकी शक्ति भी बढ़ी। हिन्दू घटे तो उनकी शक्ति भी घटी। आर्य समाज ने इस परिस्थिति को देखा। स्वामी दयानन्द का कहना था कि धार्मिक विचारों में स्वतन्त्रता तो होनी चाहिए परन्तु स्वतन्त्रता के लिए स्वतन्त्र वातावरण भी हो। भारत में बहुत सी ऐसी जातियाँ थीं और अब भी हैं जो अपनी इच्छा के बिना मुसलमान बना दी गईं परन्तु उन्होंने

इस्लाम को कभी स्वीकार नहीं किया। नाम हिन्दुओं के; प्रथायें हिन्दुओं की; घर का वातावरण हिन्दुओं का और नाम मुसलमान। मुसलमान नेता भी इधर इसकी परवाह नहीं करते थे। उन्हें विश्वास था कि यह तो फिर हिन्दू बन नहीं सकते। इन्हें तो किसी न किसी दिन मुसलमान बनना ही है। आर्य समाजियों ने कहा कि अगर कोई इस्लाम के विचार नहीं रखता तो वह मुसलमान कैसा और ऐसे लोगों को फिर शुद्ध क्यों न कर लिया जाय। यह नई बात थी और इससे मुसलमान चौकन्ने हो गए और आर्य समाजियों के विरुद्ध आन्दोलन करने लगे।

इसी युग में एक और राजनैतिक घटना उत्पन्न हो गई। अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता आवश्यक थी। महात्मा गोखले का कहना था कि एक त्रिभुज की दो भुजाएँ मिलकर तीसरे से बड़ी होती हैं। भारत के राजनैतिक त्रिभुज की तीन भुजाएँ थीं—अँगरेज, मुसलमान और हिन्दू। अगर हिन्दू और मुसलमान मिलेंगे तो अँगरेज पस्त होंगे; अगर अँगरेज और मुसलनान मिलेंगे तो हिन्दू परास्त होंगे; और यदि अँगरेज और हिन्दू मिलेंगे तो मुसलमान परास्त होंगे।

अँगरेजों और हिन्दुओं का मिलना तो मुश्किल था। हिन्दुस्तान हिन्दुओं का देश रहा है और यह हर युग और हर परिस्थिति में एक-एक इंच पर संघर्ष करते रहे हैं। यही

कारण है कि जब फारस, अफगानिस्तान आदि देश पूर्ण रूप से मुसलमान हो गए या आस्ट्रेलिया और अफ्रीका आदि में अंगरेज शीघ्रता से छा गए, भारतवर्ष में स्थिति सर्वथा विरुद्ध रही।

लोर्ड रोनेल्डसे १६२४ ई० के लगभग पश्चिमी बंगाल के गवर्नर थे। उन्होंने एक पुस्तक लिखी The Heart of the Arya Varta वे लिखते हैं कि मुझे आश्चर्य होता है 'कि डेढ़ सौ वर्ष के शासन काल में अँगरेजों ने भारतवर्ष के जीवन पर कोई नया प्रभाव नहीं डाला। जब मैं बड़े-बड़े जजों को नंगे पैरों गङ्गा स्नान करते जाते देखता हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है कि हिन्दू संस्कृति किस प्रकार अपने को सुरक्षित रखती थी। यही बात उन मुसलमानों में भी पाई जाती है जो कभी किसी अनिष्ट परिस्थिति से दबकर मुसलमान बना लिए गए।

आर्य समाजियों ने हिन्दुओं को यह बताया कि जैसे हिंदू हिन्दू धर्म को छोड़ सकता है, वैसे ही फिर से हिन्दू धर्म को ग्रहण कर सकता है। पुराने इतिहास को खोजकर कुछ ऐसे उदाहरण भी दिये गए, जो यद्यपि व्यक्तिगत थे। फिर भी उदाहरण का काम तो देते ही थे। मुसलमान थोड़े थे। यद्यपि ये भारतवर्ष में रहते थे परन्तु दिन में पूजा नमाज पढ़ते हुये इनका मुख तो अरब की ओर ही था। इनकी सारी मस्जिदें काबे की ओर मुख किए रहती हैं। इसलिए देश के लिये प्रेम रखते हुए भी कभी-कभी प्रवृति तो बदल ही जाती है। अँगरेजों

ने इसका लाभ उठाया। और मुसलमान इस प्रलोभन के शिकार हो गए।

मुसलमानों ने कभी हिन्दुओं से और कभी अँग्रेजों से मिलकर नैतिक और भौतिक लाभ उठाने का निश्चय कर लिया। जब दो बड़ी शक्तियों के बीच में कोई छोटी शक्ति आ जाती है तो उस छोटी शक्ति में स्वार्थ की भावना अधिक उत्पन्न हो जाती है और वह दोनों ओर से लाभ उठाना चाहती है। अँग्रेज तो चाहते थे कि ऐसा कोई छोटा साधन प्राप्त हो जाए कि भारतीय संगठिन न हो पाएँ। उन्होंने सर सैयद अहमद को आगे बढ़ाया और उनके पश्चात् मुस्लिम लोग आदि भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा काँग्रेस का विरोध करते रहे। उसका सबसे अंतिम परिणाम हम श्री मुहम्मद अली जिन्ना की पाकिस्तान योजना में देखते हैं।

मुसलमानों की इस प्रवृत्ति ने आर्य समाज की शुद्धि योजना को न्यायपूर्वक होते हुए भी विरोधी बना दिया। हम इसको न्यायपूर्वक इसलिए कहते हैं कि आर्य समाज वही अधिकार चाहता है जो मुसलमान, ईसाई आदि को प्राप्त है। अर्थात् धर्म-प्रचार में स्वतंत्रता हो और विचारों के आधार धर्म परिवर्तन में भी स्वतंत्रता हो। हिन्दू लोग अब तक यह मानते थे कि मुसलमानों के प्रति घृणा एक स्थायी भावना थी। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के दसवें समुल्लास में खान-पान, छूत-छात का उल्लेख करते हुये यह सिद्ध कर

दिया कि मुसलमान स्थायी घृणा के योग्य नहीं है। वह अपने आचार विचार में यदि परिवर्तन कर लें तो वे फिर शुद्ध हो सकते हैं। यही शुद्धि का अर्थ था। मुसलमानों को इस भावना का स्वागत करना चाहिये, परन्तु उन्होंने यह समझा कि यदि हिन्दुओं में वह भावना जागृत हो गई और हमारे प्रति उनकी घृणा न्यून हो गई तो सम्भव है कि वहुत से ऐसे मुसलमान जो केवल नाम के मुसलमान हैं फिर हिन्दू हो जाएँगे। हुआ ऐसा ही। लाखों मुसलमान राजपूत फिर शुद्ध हो गये। मुसलमानों ने और अधिक विरोध करना शुरू किया। महाशय राजपाल, स्वामी श्रद्धानन्द और उनसे पहले पण्डित लेखराम आदि की हत्या इन्हीं कारणों से हुई थी। न आर्य समाज की ओर से कोई अत्याचार होता था और न कोई हत्या की गई और न किसी अनुचित प्रकार से दबाव डाला गया। आर्य समाजियों के पास न तो शासन-शक्ति थी; न आर्थिक शक्ति थी; न अनिष्ट भावना ही थी। इसलिए स्पष्ट है कि मुसलमानों की ओर से इतने हत्याकांड हुये परन्तु आर्य समाज की ओर से संकेत मात्र भी कोई ऐसा कार्य नहीं हुआ। आर्य समाज के आचार की चादर पर कोई ऐसा धब्बा नहीं। मुसलमान विचारकों को यह बात सोचनी है। आर्य समाज ने हिन्दुओं को पहले से अधिक उदार बना दिया और मुसलमानों के अधिकार भी बढ़ा दिये। अब तक जो मुसलमान हिन्दू विचार रखते हुये

भी मन्दिरों में घुसने नहीं पाता था, वह आज शुद्ध होकर आर्य समाज में यज्ञ करा सकता है, उपदेश दे सकता और हर एक उन अधिकारों को प्राप्त कर सकता है जो औरों को प्राप्त हैं। अगर मुसलमान न्याय की भावना धारण कर लें और समझ लें कि जब मुसलमान बनाने में कोई रोक-टोक नहीं है तो आर्य समाज को भी कोई रोक-टोक नहीं होनी चाहिये कि वह मुसलमानों में प्रचार कर सके और इनको अपने धर्म में निमंत्रित कर सके।

———

चौदहवाँ अध्याय

शास्त्रार्थ

शास्त्रार्थ एक संस्कृत शब्द है। शास्त्र के किसी आदेश पर यदि किन्हीं दो व्यक्तियों में मतभेद हो जाय और वह युक्तियों द्वारा निर्णय करने के लिए परस्पर ऊहापोह करें तो इसका नाम शास्त्रार्थ है। कभी-कभी दो समुदाय भी हो जाते हैं और सार्वजनिक रूप से वाद-प्रतिवाद चलने लगता है। ऐसी दशा में एक निर्णायक भी चुना जाने लगा। परन्तु अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि निर्णायक व्यक्ति कभी-कभी पक्षपातपूर्ण निर्णय भी दे देता था, इसलिये धीरे-धीरे निर्णायक चुनने की प्रथा बन्द हो गई। केवल प्रबन्धक चुना जाने लगे जो प्रति-द्वंदियों पर नियंत्रण रखे। निर्णय जनता के ऊपर छोड़ दिया गया। हर श्रोता को अधिकार था कि वक्ताओं की युक्तियों को स्वतंत्र रूप से जाँच सके।

पहले मुसलमानों में इस प्रकार के शास्त्रार्थ की प्रथा नहीं थी। मुसलमान अपना अधिकार समझता था कि वह दूसरे धर्मों के मतव्यों पर आक्रमण करे क्योंकि उसके मतानुसार इस्लाम धर्म तो अल्लाह की ओर से है। उस पर आक्रमण

करने का किसी को अधिकार नहीं है। इसलिये जब मुसलमानों की शक्ति बढ़ी तो एक साधारण नियम बन गया कि मुसलमान किसी के धर्म पर आक्रमण कर सकता है, परन्तु यदि कोई अन्य धर्मावलंबी इस्लाम पर आक्षेप कर दे उसकी दो ही सजा है या तो वह मुसलमान हो जाय या उसको कत्ल कर दिया जाय। भारत में हम इस प्रकार के उदाहरण पाते हैं। हक़ीक़तराय की कहानी प्रसिद्ध है। कहते हैं कि मकतब में किसी मुसलमान लड़के ने हिन्दू धर्म पर आक्षेप कर दिया। हक़ीक़तराय को बुरा लगा। उसने भी मुसलमान धर्म पर आक्रमण कर दिया। बात बढ़ गई और काज़ी तक मामला पहुँचा। इस्लामी नियम के अनुसार हक़ीक़तराय से कहा गया कि मुसलमान हो जाओ नहीं तो प्राण दंड दिया जायगा। उसने मुसलमान होना स्वीकार नहीं किया। और उसको कत्ल कर दिया गया। हक़ीक़तराय की कहानी का ऐतिहासिक मूल्य क्या है यह हम नहीं जानते परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत हैं।

स्वामी दयानन्द ने शास्त्रार्थों की प्रथा को पुनर्जीवित कर दिया। आरम्भ में तो यह शास्त्रार्थ केवल मूर्तिपूजा के विरोध में होते थे। परिपाटी यह थी जब स्वामी दयानन्द किसी पंडित को भागवत् की कथा पढ़ते देखते तो वह आक्षेप कर बैठते। उन्होंने भागवत् के कुछ ऐसे स्थल छाँट रखे थे जिनके आधार पर वे व्याकरण के प्रश्नों पर अपने प्रतिद्वंदी को निरुत्तर कर सकें, क्योंकि यह समझा जाता था कि भागवत् का पंडित

व्याकरण का भी महा पंडित है। यह प्रथा आगे बढ़कर सार्व-जनिक शास्त्रार्थों में बदल गई। काशी का शास्त्रार्थ तो हिन्दू धर्म और आर्य समाज के इतिहास में एक प्रमुख घटना है। इसने काशी के अतिरिक्त सनातन धर्म के जगत् को हिला दिया।

आगे बढ़कर जब स्वामी दयानन्द ने अन्य धर्मों को भी वैदिक सन्देश देकर आमंत्रित किया तो मुसलमान और ईसाइयों से भी शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। स्वामी दयानन्द अपने व्याख्यानों में सभी धर्मों की आलोचना किया करते थे, अतः स्वाभाविक था कि ईसाई और मुसलमान भी शास्त्रार्थ के मैदान में आ जायँ। शाहजहाँपुर के जिले में एक कस्बा है चान्दापुर। वहाँ के मुख्य रईस मुंशी प्यारे लाल ने एक धार्मिक मेला* लगाया जिसमें मुसलमानों की ओर से मौलवी मुहम्मद कासिम और ईसाइयों की ओर से पादरी स्काट तथा नोबिल और स्वामी दयानन्द के बीच में मुख्य-२ धार्मिक सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ हुआ। पहले तो मुसलमान लोग यह समझते थे कि उनके सिद्धांत अमर रूप हैं और हिन्दू धर्म तो एक कच्चा धागा है जो एक झटके से टूट सकता है। स्वामी दयानन्द की ओर से वैदिक धर्म की सम्पुष्टि में जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गईं उन्होंने नकशा ही बदल दिया। आर्य समाज और मुसलमानों में लगातार बीस वर्ष तक बड़े शास्त्रार्थ होते रहे। पंडित लेखराम,

* यह मेला १६ व २० मार्च १८७७ ई० को हुआ था।

साधु योगेन्द्र पाल, स्वामी दर्शनानन्द, मास्टर आत्माराम अमृतसरी, पं० भोजदत्त, पं० राम चन्द्र देहलवी, पं० धर्म भिक्षु आदि-आदि बहुत से आर्य विद्वानों ने मौलवी सनाउल्ला अमृतसरी, मौलवी अबू रहमत मेरठी तथा अन्य मुसलमान विद्वानों से प्रमुख शास्त्रार्थ किये। इस बीस बरस के अनुभव ने मुसलमान जनता पर यह सिद्ध कर दिया कि उनके विद्वान् आर्य समाज की युक्तियों का यथेष्ट उत्तर नहीं दे सकते। मुसलमान नेताओं ने इस परिस्थिति पर विचार किया और अब एक नीति बना ली कि मजहब में सियासत (राजनीति) का रंग देना चाहिए। क्योंकि मज़हब में तो सच्चा धर्म क्या है ? अधर्म क्या है ? आदि-आदि प्रश्नों की गुंजाइश थी। जब जनता राजनैतिक हो गई तो उसका दृष्टि-कोण बदल गया। अब सत्या-सत्य के निर्णय का प्रश्न नहीं रहा। अब साम्प्रदायिक अधिकारों का प्रश्न था। लगभग ५० वर्षों से यही स्थिति चली आ रही है। मुसलमान शास्त्रार्थ के लिए नहीं आते, बुलाने पर भी नहीं आते। वह अधिकारों को सत्य से अधिक मूल्यवान समझते हैं। मुसलमान जनता को इससे बहुत बड़ी हानि यह हुई कि उनकी बौद्धिक शक्ति क्षीण हो गई। मुसलमान विद्वान् जब दूसरों को मुसलमान बनाता है तब तो तर्क से काम लेता है और कहता है कि तुम्हारा धर्म तर्क से सिद्ध नहीं होता इस लिए त्याज्य है परन्तु जब वे मुसलमान हो जाते हैं तो उनको तर्क करने से रोकता है। यह क्रम आदि काल से चला

आ रहा है। मुसलमानों के भक्ति-भाव को दृढ़ करने के लिये स्वर्ग और नरक, कावा इत्यादि के विषय में अनेक गाथायें बना ली गई हैं। इससे मुसलमान जनता सोचना नहीं चाहती। शास्त्रार्थ ही केवल एक साधन है जिनके द्वारा साधारण जनता को भी सोचने का मौका मिलता है अन्यथा कूप-मंडूक-वत् रहते हैं। मुसलमान विद्वानों का यह तरीका रहा कि जब कोई तर्क करे तो उसे अपने में से निकाल दें। एक जबरदस्त फिरका है मोतजिला। इसका अर्थ ही है कि निकाला हुआ। बात यह थी कि हसन बसरी की सभा में एक मुसलमान ने कुछ तर्क उठा दिया। अध्यक्ष जी नाराज हो गए और कहा कि इ अ ति जिल् अर्थात् तुम निकल जाओ। वह निकल गया और उसके साथी मोतजिला कहलाए। इसी प्रकार से मुसलमान के फिरके ७२ हो गए। यदि तर्क किया जाता तो इतना मत भेद न होता।

पन्द्रहवाँ अध्याय

खंडनात्मक साहित्य

जब मुसमान भारत में आए तो स्वभावतः भारत के लोगों ने फारसी और अरबी पढ़ना आरम्भ कर दिया क्योंकि सरकारी काम फारसी में होता था। हिन्दी या संस्कृत केवल पुरोहितों की भाषा रह गई थी, क्योंकि हिन्दू लोगों के घरों में नामकरण, विवाह और दाह कर्म कराने के लिए पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। संस्कृत का गंभीर अध्ययन तो कुछ थोड़े से केन्द्रों के अतिरिक्त कहीं रह नहीं गया था। फारसी की पुस्तकों के पढ़ने से कुरान और इस्लामी सिद्धान्तों का अधिक प्रचार होता था। सादी, हाफिज आदि विद्वानों के फारसी के ग्रन्थ इस्लामी गाथाओं से भरे पड़े हैं। जनता का कोई सम्बंध संस्कृत से नहीं रह गया था। मुसलमानों की ओर से हिन्दू धर्म के विरुद्ध निरंतर बहुत सी पुस्तकें निकलती रहीं जिनका हिन्दुओं की ओर से कोई प्रतिकार नहीं हुआ। स्वामी दयानंद ने सब अवैदिक धर्मों का खंडन करते हुए सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास में कुछ साधारण सी आलोचना की है क्योंकि उनको मुसलमानों से भी शास्त्रार्थ

करना पड़ा और उन्होंने यह आवश्यक समझा कि वैदिक धर्म के पुनरुद्धार के लिए विपक्षियों की आलोचना आवश्यक है। आर्य समाज के इस्लाम विरोधी साहित्य का यहीं से आरम्भ होता है। मुसलमानों के शासन काल में तो किसी विद्वान् का तो ऐसा साहस नहीं होता था कि वह इस्लामी सिद्धान्तों की आलोचना कर सके, परंतु ब्रिटिश काल में धार्मिक आलोचना की स्वतन्त्रता हो गई।

ईसाई धर्म का भी प्रचार बढ़ गया। इसका लाभ हिन्दुओं को भी मिला। हिन्दुओं में बहुत दिनों से भीतर-भीतर कुछ न कुछ उत्कंठा विद्यमान थी कि मुसलमानों के सिद्धांतों की निर्बलता की खुल्लम खुला आलोचना की जाए। आर्य समाज तो था नहीं हिन्दू थे मूर्तिपूजक। मुसलमान मूर्तिपूजा का मखौल उड़ाते थे, परंतु इस प्रकार की निर्बलताएँ मुसलमानों में भी थी। स्वामी दयानन्द से पहले मुरादाबाद में एक विद्वान् थे मुंशी इन्द्रमणि। ये वैश्य थे और अरबी और फारसी के विद्वान् थे। लेखक भी बहुत अच्छे थें। इसलिये इन्होंने मुसमानों के आक्षेपों का तुर्की-बतुर्की जवाब देना आरम्भ कर दिया।

"बहुत दिनों की बात है कि एक मुसलमान ने उर्दू में एक पुस्तक रद्दे* हुनूद के नाम से हिन्दू धर्म के विरुद्ध लिखी थी।

* रद्दे हुनूद पुस्तक के लेखक थे मुहम्मद इस्माइल बौकनी रत्नागिरी। यह पुस्तक पहले पहल मुहम्मद इदरीस बिन अब्दुला

उसके उत्तर में चौबे बद्रीदास ने 'रद्दे मुसलमान' नामक पुस्तक लिखी। उसके पश्चात् मौ० उबैदुल्ला नामक नौ मुस्लिम ने तोहफतुलहिंद नामक पुस्तक लिखी। ये १२६४ हिजरी (१८५८ ई०) में मुसलमान हो गये थे। उनका नाम अनन्त-राम था। इस पुस्तक में हिन्दुओं के देवताओं और महा-पुरुषों की घोर निन्दा की गई थी।"

उसके उत्तर में उसी वर्ष मुन्शी इन्द्र मणि ने फारसी भाषा में 'तोहफतुल इस्लाम' नामक पुस्तक लिखी। इसके उत्तर में सैयद महमूद हुसैन ने 'खल अतल हनूद' नामक पुस्तक फारसी में १२८१ हि० (१८६५ ई०) में प्रकाशित की। मुंशी इन्द्र मणि ने उसका मुंह तोड़ उत्तर सन् १८६६ ई० में अपनी पुस्तक 'पादाशे-इस्लाम' में दिया। मुसलमानों की ओर से फिर जब मुरादाबाद के एक मौ० अहमद दीन ने 'एजाजे-मुहम्मदी' और दूसरे मौ० क़ुतुब आलम ने 'बदिया अस्लाम' नामक पुस्तकें लिखीं तो मुंशी इन्द्रमणि ने १८६५ ई० में 'हम-लाए-हिन्द' व 'समसामे हिन्द' नामक पुस्तकें प्रकाशित कीं और १८६७ में 'सोलतए-हिन्द' नामक पुस्तक लिखी। बरेली के एक मुसलमान ने एक गन्दा काव्य हिन्दू धर्म के विरुद्ध 'मस्नवी दीने हिन्दू' नाम से लिखा। उसका भी उत्तर

चिलमाई द्वारा १२६१ हिजरी अर्थात् १८४५ ई० में बम्बई से प्रकाशित हुई थी इसका दूसरा संस्करण जुअलहज तदनुसार नवम्बर १८५० ई० में कानपुर से प्रकाशित हुआ था।

मुं० इन्द्रमणि ने 'मस्नवी दीने अहमद' काव्यमय पुस्तक लिख कर सन् १८६६ ई० में दिया। सन् १८७३ ई० में एक अत्यन्त गंदी पुस्तक मौ० अहमद दीन ने 'तेगे फकीर बर गर्दने शरीर' लिखी। रद्दे हनूद के उत्तर में उस समय एक और पुस्तक 'अब्ताल उल् मुखासमीन' हिन्दुओं की ओर से लिखी गई थी। 'हमलए हिन्द' 'समसामे हिन्द' व 'सोलते हिन्द' के दो संस्करण हो चुके थे। 'तोहफतुल हिन्द' का भी दूसरा संस्करण हाशमी प्रेस मेरठ और तीसरी बार मुहर्रम १२७७ हि० (१८६० ई०) में प्रकाशित हुआ। मुंशी इन्द्रमणि जी की सबसे बड़ी और प्रसिद्ध पुस्तक इन्द्र वज्र है, यह है भी वस्तुतः इन्द्र वज्र ही, क्योंकि इसकी युक्तियाँ और प्रमाण बड़े प्रबल हैं। अब तक दोनों ओर से एक दूसरे मत के ऊपर कटाक्ष होते रहे, परन्तु उनसे किसी पक्ष में उत्तेजना न हुई। पहले तो मुसलमानों ही की ओर से हुई थी। सबसे पहली पुस्तक तो हिन्दू धर्म के विरुद्ध एक मुसलमान ने ही लिखी थी। मुंशी इन्द्रमणि तो मुसलमानों के आक्रमण का केवल उत्तर देते रहे थे। इसके अतिरिक्त १८७५ ई० से कुछ वर्ष पूर्व और बाद में ईसाइयों की ओर से मुसलमानों के संबंध में जो कुछ लिखा या कहा गया सम्भवतः उससे भी धार्मिक जागृति मुसलमानों में हुई। महर्षि दयानन्द के कार्य-क्षेत्र में उतरने के समय १८६३ ई० के आरम्भ या उसके कुछ समय पूर्व धर्म के नाम पर भारत में बहुत उपद्रव मचा हुआ था। यह वह समय था

जब कि मुसलमानों में धार्मिक जागृति के कारण तब्लीग के चक्कर में हिन्दू अपने धर्म को छोड़कर ईसाई और मुसलमान हो रहे थें। स्वामी दयानन्द धर्म के उपासक थे और वे सत्य अनुरागी थे। ऐसी अवस्था में उन्होंने उचित समझा कि लोगों को कुरान की शिक्षा से परिचित कराया जाय ताकि लोग अपने धर्म से अनभिज्ञ होने के कारण कुरान के मजहब को श्रेष्ठ न समझें। इसी समय स्वामो जी ने सत्यार्थ प्रकाश नामक अद्वितीय पुस्तक १८७५ ई० में लिखी जिसमें अन्य मतों की आलोचना के साथ १४वें समुल्लास में इस्लाम की भी आलोचना की। यदि स्वामी जी उस समय चौदहवाँ समुल्लास न लिखते तो हिन्दू मिट जाते और शायद कहीं कोई हिन्दू दृष्टिगोचर न होता। उनके जमाने में हिन्दुओं की यह अवस्था थी कि उर्दू और फारसी जानने वाले हिन्दू पत्र लिखते समय बिस्मिल्लाह लिखा करते थे।

स्वामी दयानन्द के उपदेशों ने सर्वसाधारण के हृदय में वैदिक धर्म के प्रति नई आस्था उत्पन्न कर दी थी। मुंशी इन्द्रमणि का जब स्वामी दयानंद से सम्पर्क हुआ तो उनकी पुस्तकों का भी ढंग कुछ बदल गया। मुंशी इन्द्रमणि जी अब से पहले जो इस्लामी आक्षेपों का उत्तर देते थे इनमें हिन्दू कुरीतियों का भी सम्पोषण होता था जैसे जब मुसलमानों ने यह आक्षेप किया कि मूर्तिपूजा कुफ्र है तो मुंशी इन्द्रमणि जी ने कहा कि संगअस्वद का पूजना भी तो मूर्तिपूजा है। जैसे हिंदू मूर्ति-

पूजक वैसे मुसलमान मूर्तिपूजक। स्वामी दयानंद ने एक नए मार्ग का अवलंबन किया। उन्होंने हिंदुओं की अवैदिक कुरीतियों का बड़ी प्रबलता से खंडन किया। इसका मुंशी इंद्रमणि की पुस्तकों पर भी प्रभाव पड़ा और इस्लामी धर्म के खंडन का प्रभाव बढ़ गया। मुसलमान लोगों ने मुंशी इंद्रमणि के ऊपर मुकदमा चला दिया। ऋषि दयानंद ने उनकी सहायता की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि खंडनात्मक साहित्य का आरम्भ मुसलमानों से हुआ और हिंदुओं की ओर से उसका उत्तर भी दिया जाता रहा है तथापि आर्य समाज के आगमन ने इस खंडनात्मक साहित्य को प्रबलरूप दे दिया। स्वामी दयानन्द से मुसलमानों के शास्त्रार्थ हुये उसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। परंतु स्वामी जी के देहान्त के पश्चात् सबसे उग्र खंडनात्मक साहित्य क़ादियान के मिर्ज़ा गुलाम अहमद क़ादियानी से आरम्भ होता है। यह अपने को 'मसीह मऊद' कहते थे। इसका अर्थ यह था कि बाइबिल में जो ईसा मसीह के पुनरागमन की जो भविष्य वाणी की गई है मिर्ज़ा गुलाम अहमद वही मसीह हैं। उन पर वही (ईश्वर वाणी) भी आती थी। वह अपने को कृष्ण भी कहते थे। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों में उनका प्रचार होता था। उन्होंने वैदिक धर्म के विरुद्ध बहुत साहित्य तैयार किया। एक मशहूर किताब लिखी 'बराहीन अहमदिया'। पं० लेखराम उस समय

आर्य समाज के उपदेशक थे। उन्होंने स्वयं कादियान में जाकर गुलाम अहमद को चैलेंज दिया कि वह अपना पैगम्बर होना सिद्ध करें और दो बड़ी पुस्तक लिखी एक 'तकजीब वराहीन अहमदिया' और दूसरी नुसखए खब्त अहमदिया'। इसके अतिरिक्त और छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे जो आजकल 'कुल्लियात मुसाफिर' के रूप में मिलते हैं। पं० लेखराम पर भी मुसलमानों ने मुकदमा चलाया और मिर्जा गुलाम अहमद ने उनके कत्ल की पेशीनगोई (भविष्य वाणी) भी की। ६ मार्च १८६७ में पं० लेखराम जी की लाहौर में हत्या कर दी गई। इसने सारे पंजाब में एक नया जोश पैदा कर दिया। पं० लेखराम के देहांत के पश्चात् आर्य समाजियों और मुसलमानों की ओर से बहुत से छोटे-मोटे खंडनात्मक ग्रन्थ निकलते रहे। स्वामी दर्शनानंद जी ने कई छोटे २ ट्रैक्ट लिखे। कुछ आर्य समाजियों की ओर से आर्य मुस्लिम मिलाप के नाम से कुछ ऐसे ट्रैक्ट भी निकाले गए जिनमें इस्लाम और वैदिक धर्म की समानता पर अधिक बल दिया गया। इसके विशेष लेखक थे मास्टर लक्ष्मणदास रामनगरी। इन्होंने वेद और कुरान नाम से एक बड़ी पुस्तक लिखी। जिसमें उन्होंने दिखलाया कि मुसलमानों की बहुत सी शिक्षा वेदों की शिक्षा से मिलती है। परंतु इस गंगा जमुनी संगम साहित्य का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। खंडनात्मक साहित्य दोनों ओर से निकलता था, कभी नरम और कभी गरम।

इस सम्बन्ध में एक और किताब लिखी गई जिसका नाम था 'तहजीबुल इस्लाम'। यह चार जिल्दों में है। इसके लेखक एक युवक अब्दुल गफूर नामी थे जो शुद्ध होकर धर्मपाल हो गए थे। धर्मपाल उर्दू के अत्यन्त रोचक लेखक थे। आरम्भ में तहजीबुल इस्लाम का बहुत प्रचार हुआ। तहजीबुल इस्लाम के पढ़ने में उपन्यास का मज़ा आ जाता है। इस्लामी सिद्धांतों का खंडन तो है ही परन्तु शैली बड़ी रोचक है। आजकल वह पुस्तक मिलती नहीं है। श्री पं० रामचन्द्र जी देहलवी के शास्त्रार्थों में इस्लाम धर्म के सिद्धांतों का मार्मिक और कोमल खंडन मिलता है जिसकी मुसलमान लोग भी प्रशंसा करते हैं। परन्तु उनकी ओर से कोई बड़ी पुस्तक लिखी नहीं गई। इस पुस्तक के लेखक ने चार वर्ष हुए 'मसावीहुल इस्लाम' नामक एक उर्दू की पुस्तक लिखी और उसका हिन्दी में 'इस्लाम के दीपक' नाम से अनुवाद किया। मतभेद प्रकट करते हुए भी कई मुसलमान विद्वानों ने 'मसावीहुल इस्लाम' को दो एक रोचक पुस्तक बताया।

खण्डनात्मक साहित्य के साथ-साथ श्री पं० गंगाप्रसाद जी, चीफ जज, टेहरी (गढ़वाल) लिखित Fountain Head of Religion 'धर्म का आदि स्रोत का भी उल्लेख आवश्यक है। यह एक तुलनात्मक पुस्तक है और प्रत्यक्ष रूप से खंडनात्मक नहीं है। परन्तु इसमें यह सिद्ध किया गया है कि वैदिक धर्म ही आदि धर्म है और मसीही, इस्लाम आदि वैदिक धर्म के

ही विकृत रूप हैं। इसलिए परोक्ष रूप से इस पुस्तक को भी हम खंडनात्मक कह सकते हैं।

मुसलमानों की ओर से समय-समय पर हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के हेतु कोई न कोई पुस्तक निकलती रहती है। इस संबंध में कुछ पुस्तकें ऐसी भी निकलीं जिनका वितरण केवल मुसलमानों तक ही हुआ। जब हिन्दू और मुस्लिम एकता का झंडा फ़हराया जा रहा था, दिल्ली के ख्वाजा हसन निज़ामी की ओर से एक छोटी सी पुस्तक लिखी गई जिसका नाम था 'दाइये इस्लाम'। इसमें मुसलमान बनाने की एक नई शैली का प्रस्ताव किया गया था। 'दाइये इस्लाम' में कहा गया है कि मुसलमान पेशेवर हिन्दुओं के घरों में जाया करते हैं जैसे चूड़ी पहिनाने वाली स्त्रियाँ (मनिहारिनें)। इनको चाहिए कि जब ये हिन्दुओं के घरों में जायें तो चुपके-चुपके मुसलमान होने की प्रेरणा करती रहें। जब स्वामी श्रद्धानन्द जी कॉंग्रेस के सम्बंध में जेल में थे तब किसी ने 'दाइये-इस्लाम' की एक प्रति स्वामी जी को भेंट करदी। स्वामी जी की आँखें खुल गईं। उन्होंने सोचा कि यह तो अजीब तमाशा है। ऊपर-ऊपर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रचार है और भीतर-भीतर हिन्दुओं की जड़ खोदने का प्रयत्न भी चल रहा है। कुछ दिनों 'दाइये इस्लाम' का बड़ा शोर रहा और उसके विरुद्ध 'खतरे की घंटी' आदि कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इनसे एक बात तो सिद्ध होती है कि आर्य समाज ने जो

खंडनात्मक साहित्य निकाला है, गरम हो या नरम, वह विवश होकर निकाला है। प्रारम्भ पहले प्रथम मुसलमानों ही की ओर से हुआ है। आर्य समाज तो पीछे से मैदान में आया और आया भी तो केवल वैदिक धर्म की रक्षार्थ। अब भी आर्य समाज का यही दृष्टिकोण है।

———

सोलहवाँ अध्याय

समाज

किसी मनुष्य ने शेर को एक चित्र दिखाया जिसमें एक शेर के ऊपर एक आदमी सवार था और हाथ में कोड़ा लेकर उसको हाँक रहा था। आदमी बोला, 'देखा तुमने! मनुष्य कैसा वीर होता है?' शेर ने उत्तर दिया 'जी देखता हूँ! मनुष्य की वीरता का नमूना तो रोज़ देखता हूँ। यदि यह चित्र किसी शेर ने बनाया होता तो मनुष्य को शेर के मुँह में दिखाया गया होता।'

मनुष्य अपने को सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ कहता है। मेरे घर के सामने से प्रतिदिन कसाई लोग बकरियों को कसाई-घर ले जाया करते हैं। किसी बकरी से पूछो कि क्या मनुष्य एक शरीफ जन्तु है? बकरी उत्तर देगी, 'देखलो पूछते क्या हो? यदि निर्दयता और रुधिर पिपासा श्रेष्ठता का चिह्न है तो मनुष्य श्रेष्ठ भी है और श्रेष्ठतम भी। यदि रुधिर-पिपासा के साथ धोखा देना, चालाकी और आत्म श्लाघा को भी शामिल कर लिया जाय तो मनुष्य की श्रेष्ठता में कोई संदेह नहीं रहता। यह मुझको गोद में उठाकर ले जाता है, घास

ख़िलाता है, प्रेम जताता है परन्तु मेरी हत्या करने के लिए। इसके भोज मेरे मांस से सम्पन्न होते हैं। और फिर भी यह दावा करता है कि मेरे मज़हब में खून हराम है। यह चोरी और सीना जोरी तो देखिए।'

क्या मनुष्य सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ नहीं? यदि नहीं है तो मनुष्य से श्रेष्ठतम जीव कौन सा है? दृष्टिकोण अलग-अलग है। शारीरिक सौंदर्य को श्रेष्ठतम नहीं कहते। अन्यथा तोते की नाक मनुष्य की नाक से अधिक सुन्दर है। और नाक वालों में तोता श्रेष्ठतम है। श्रेष्ठता की परिभाषा यह है कि मनुष्य ही केवल ऐसा जीव है जो स्वार्थ को त्याग कर दूसरों के हित की बात सोच सके। दूसरों के लाभ की बात सोचना केवल मनुष्य के लिए ही सम्भव है, इसलिए समाज का निर्माण केवल मनुष्य कर सकता है। समाज निर्माण का आरम्भ निस्वार्थता और परहित चिन्तन से ही होता है। सबसे बड़ा समाज वह है जिसका हर अंग अपनी अपेक्षा दूसरे अंगों की रक्षा का अधिक ध्यान रखता है।

समाज का कैसे निर्माण होता है इस पर समाज-शास्त्र के पंडितों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ पश्चिमी विद्वानों ने कहा है कि आरम्भ में मनुष्य अलग-अलग पैदा हुए थे। कोई पारस्परिक सम्बन्ध न था। जानवरों के समान रहते थे। पीछे से यह विचार हुआ कि आपस में समझौता करके एक समाज बनाना चाहिए। इसलिए सबने मिलकर एक संधि की

कि आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे की सहायता की जायगी। इस विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। किसी देश या जाति के इतिहास में यह संधि नहीं मिलती।

आर्यसमाज का मत यह है कि सृष्टि की रचना जीवों के विकास के लिये होती है। जब सृष्टि उत्पन्न होती है तो सहस्रों प्रकार के जानवरों के साथ-साथ मनुष्य भी पैदा होता है। मनुष्य और पशु में शारीरिक भेद है, आत्मा की जातीयता का भेद नहीं। जीव एक समान हैं, प्रत्येक में सुख और दुख की अनुभूति है। हमारी वर्तमान सृष्टि भी कोई आकस्मिक घटना नहीं है। अनादि और अनंत ईश्वर की सृष्टि का प्रवाह भी अनादि और अनन्त है। जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होते हैं इसी प्रकार सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि होती है। ऋग्वेद के एक मंत्र में आता है कि ईश्वर ने सूर्य और चंद्रमा को इस वर्तमान सृष्टि में उसी प्रकार बनाया है जैसे पुरानी सृष्टियों में बनाया था। कुरान शरीफ में भी इस विचार की एक झलक मिलती है। यद्यपि स्पष्टता के साथ नहीं—

"अल्लाहो यब्दउल् खल्क, सुम्म योईदोहू सुम्म इलैहे तुर्जऊन"

(सूरह रूम आयत ११)

अर्थ :—"ईश्वर सृष्टि को उत्पन्न करता है, और फिर उत्पन्न करेगा और उसकी ओर लौट जाएँगे।"

यहाँ "तुर्जऊन" लौट जाने से क्या तात्पर्य है ? जीवों को

ईश्वर ने उत्पन्न किया, वह जीव ईश्वर से पृथक थे नहीं ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, जीवों में भी है। जब जीव फिर ईश्वर की ओर लौट गये—तो इसका अर्थ यह है कि जीवों का अलग अस्तित्व न रहेगा और केवल ईश्वर ही ईश्वर रहेगा। जीवों का भाव से अभाव हो जाना तो विकास नहीं अपितु विकास का उलटा है, इससे समाज का भी आरम्भ नहीं होता, समाज तो जीवों के नित्य होने से ही बन सकता है।

वेदों में लिखा है कि जब आरम्भ में ईश्वर सृष्टि बनाता है तो जीवों के पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार कई प्रकार की योनियाँ उत्पन्न करता है। कुछ साध्य होते हैं और कुछ ऋषि। साध्य साधारण लोग हैं। ऋषि पथ-प्रदर्शन करते हैं। ऋषियों की शिक्षा के अनुकूल समाज निर्माण होता है। समाज में कई प्रकार के लोग होते हैं। कुछ सत्य मार्ग पर चलते हैं, कुछ भूलें करते हैं। इससे समाज बनते बिगड़ते रहते हैं।

मुसलमानों का सिद्धांत है कि आरम्भ में एक आदम ही पैदा हुआ। इतनी विशाल सृष्टि में एक ही क्यों पैदा हुआ? और एक संतति कैसे चल सकती थी? यह एक उलझन है। इस उलझन को सुलझाने के लिए मुसलमानों ने कई प्रति-पत्तियाँ सोचीं। प्रथम तो आदम को बहिश्त में (स्वर्ग) में पैदा किया गया था। दुनिया में क्यों पैदा नहीं किया गया? और बहिश्त से निकाला क्यों गया? मुसलमानों का कहना है कि परमात्मा की उत्पत्ति के प्रकार एक नहीं हैं। माता-पिता के बिना आदम

को पैदा किया। माता के बिना हौवा को पैदा किया। पिता के बिना ईसा को पैदा किया और माँ-बाप से दुनिया को पैदा किया। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आरम्भ में बिना माँ-बाप के ही पैदा होते हैं। जब ईंटें बनाते हैं तो एक साँचा बनाते हैं जो बिना किसी दूसरे साँचे की सहायता के बनता है परन्तु पीछे से सब ईंटे उस सांचे के समान बनती हैं। आरम्भ में जैसे नर बनता है वैसे ही नारी भी बनती है। नर से नारी बनाना सृष्टि के क्रम के प्रतिकूल है और केवल नारी से नर बनाना यह भी सृष्टिक्रम के विरुद्ध है। ईसा के कुवाँरी मरियम से पैदा होने के लिए ईसाइयों ने कई कारण गढ़े हैं। सबसे मुख्य कारण यह है कि ईसा को ईश्वर का पुत्र सिद्ध करना था। प्राचीन काल में यूनान इत्यादि देशों में हर बड़े आदमी को ईश्वर का बेटा कहते थे, जैसे संस्कृत में अमृत पुत्र शब्द का प्रयोग होता है। ईसा भी शायद इसी अर्थ में ईश्वर के पुत्र कहलाते होंगे परन्तु ईसाइयों का मत था कि सृष्टि का मूल कारण पाप है।

आदम ने पाप किया था, वह पाप हम सबको दाय-भाग में मिला है, इसलिए मनुष्य पापी है। इस पाप के निवारण के लिए ईसा माँ-बाप से पैदा नहीं हुये जिससे आदम का पाप उनमें न आ सके परन्तु आश्चर्य यह है कि क्या मरियम आदम की संतान न थी? इसलिये केवल मरियम के पेट से पैदा होकर भी पाप दायभाग में आ सकता था।

करते न गुनह, मरते न, होती न क़ियामत
बतलाइए क्या होता जो शैतान न होता ।।

हज़रत आदम के घर का इतिहास आपस के लड़ाई-झगड़े का इतिहास है। हबील और काबील आपस में लड़ते हैं। काबील हाबील को मार डालता है :—

खाना जंगी गर न मंजूरे खुदा होती तो क्यों
हज़रते क़ाबील आते खानए आदम के बीच ।।

ऐसी निरर्थक कहानियों को इस्लाम ने भी ननुनच के बिना स्वीकार कर लिया है। केवल ईसा का पुत्र न मानकर पैग़म्बर माना है। इसमें भी मुहम्मद साहब का एक हित था। यदि ईसा ईश्वर के पुत्र होते हैं तो मुहम्मद साहब की पदवी नीची हो जाती है। इसलिये ईसा को एक ऐसा पैग़म्बर माना गया जिसकी पैगम्बरी समाप्त हो चुकी। इन कहानियों के आधार पर जो समाज बनाया गया उसका संगठन वैज्ञानिक नहीं है।

इस्लाम में विश्व-भ्रातृत्व को महत्ता दी गई। यह मुहम्मद साहब के संशोधनों में एक बड़ा संशोधन है। इसने अरब की पुरानी दल-बन्दियों को दूर करके एक नई जातीयता की नींव डाली। परन्तु यह नींव ईमान और क़ुफ़्र, विश्वास और अविश्वास की कल्पनाओं के आधार पर है। यह सिद्धान्त बनाया गया कि जो ईमान लाता है वह नेक है, जो ईमान नहीं लाता वह बुरा है। ईमान और क़ुफ़्र की माप प्राकृतिक नहीं थी अपितु गौण थी इसलिए बहुत से मुसलमान विद्वानों का कथन

है कि एक दुराचारी-मुसलमान सदाचारी-काफ़िर से ज्यादा अच्छा है।

आर्यसमाज इस प्रकार के विभाजन का पक्षपाती नहीं है। आर्यसमाज के विचार से सदाचार सबसे बड़ी चीज़ है। एक बार स्वामी दयानन्द ने किसी से पूछा, 'भला आदमी कौन है?' उसने कहा, 'भला वह है जो अधिक से अधिक समाज का हित करे।' स्वामी दयानन्द ने कहा 'गाय के बध से अधिक लाभ होता है या उसकी रक्षा से?' उसने उत्तर दिया 'गाय की रक्षा से'। स्वामी दयानन्द ने कहा, 'फिर गाय को क्यों मारते हो?' वास्तव में गाय की रक्षा, बकरी की रक्षा, अन्य पशुओं की रक्षा यह सब सदाचार के पहले नियम के अंतर्गत आजाते हैं। इसको कहते हैं 'अहिंसा'। योग-दर्शन में इसको सार्वभौम धर्म माना है अर्थात् देश, काल, जाति, समय से बाधित नहीं है। वेद में कहा है सब जीवों को मित्र की दृष्टि से देखो। इसी नींव पर समस्त समाज-निर्माण आधारित है।

आर्य समाज के विचार से समाज को चार भागों में बाँटा गया है। ऋग्वेद में एक सूक्त है जिसको पुरुष सूक्त कहते हैं। उसमें समाज की मानव शरीर से उपमा दी गई है। उपमा बड़ी रोचक और शिक्षा-प्रद है। शरीर कुछ अवयवों का समूह है परन्तु केवल समूह नहीं सब अवयव शरीर के अंग हैं और वह एक जैसे नहीं है। स्थूल दृष्टि से शरीर के दो भाग हैं,

(१) सिर (२) धड़। सूक्ष्म-दृष्टि से आत्मा और देह। आत्मा चेतन है और देह जड़ है। आत्मा अधिनायक है और शरीर उसका अनुसरण करता है। आगे चलिए, शरीर के चार भाग हैं, मुख, बाहु, पेट, पैर। यह तो हुआ स्थूल विभाजन, परंतु इसकी पृष्ठ भूमि में एक बौद्धिक विभाजन भी है जो गुण और कर्म के आधार पर है। मुख सोचता है अतः वह बुद्धि का प्रतीक है। बाहु शारीरिक शक्ति का प्रतीक है। पेट शारीरिक रक्षा का प्रतीक है और पैर सेवा का। इस प्रकार समस्त समाज के चार भाग हो गए। (१) जो बुद्धि से प्रेरणा दे उसका नाम है ब्राह्मण। (२) बाहु यानी शक्ति के प्रतीक हैं जो सर से लेकर पैर तक हर समय हर अंग की सहायता और रक्षा करने के लिए उद्यत रहते हैं। इनको वेदों ने क्षत्रिय कहा है। क्षत्रिय शब्द का अर्थ विशेष महत्व रखता है। क्षत्रिय का अर्थ यह है कि जो किसी को विपत्ति से बचावे अर्थात् संरक्षक। भुजाएँ समस्त शरीर की संरक्षक हैं, सर की भी, धड़ की भी, पेट की भी और पैर की भी। इस प्रकार क्षत्रिय वह नहीं है कि जो शक्ति वाला हो और दूसरों पर अत्याचार करे। अपितु क्षत्रिय वह है जो शक्ति प्राप्त करके उस शक्ति को दूसरों की रक्षा करने में लगाए। (३) तीसरा अंग है पेट। पेट शरीर को भोजन पहुँचाता है। मस्तिष्क को भी रक्त पेट से ही पहुँचता है, आँख को भी, कान को भी, भुजाओं को भी, स्वयं पेट के दूसरे भागों को भी और पैरों को भी। इस

लिये पेट की उपमा वैश्यों से दी गई है। वैश्य वह हैं जो जाति की आर्थिक सम्पन्नता का उत्तरदाता है। पेट का काम है शुद्ध रक्त उत्पन्न करना और दूसरों तक पहुँचाना। वैश्यों का कार्य है नेक कमाई करना और दूसरों को उस कमाई से लाभ पहुँचाना। (४) चौथे पैर। ये शेष अन्य अवयवों की सेवा करते हैं, इसलिए उनका नाम शूद्र हुआ। अफलातून ने समाज की नींव तीन नियमों पर रक्खी हैं। उसने लिखा है कि मनुष्यों में कुछ ऐसे लोग हैं जिनमें विचार की भावना अन्य भावनाओं से अधिक होती है। यह सम्पूर्ण समाज का पथ-प्रदर्शन करते हैं, इसलिये इनको दर्शन नृपति (King philosop-her) कहा है। दूसरे वे हैं जिनमें शक्ति प्रदर्शन की इच्छा अधिक होती है। यह युद्ध प्रिय होते हैं और अपनी शक्ति दूसरों की रक्षा के लिए प्रयोग में लाते हैं। तीसरे वह लोग हैं जिनमें भोगविलास की इच्छा अधिक होती है। अच्छा खाएँ, अच्छा पहिनें, अच्छे घरों में रहें, हल्ला-गुल्ला कम हो, तप और अनशन का अवसर न पड़े। अफलातून ने चौथे भाग का उल्लेख नहीं किया क्योंकि उसके समय में यूनानी लोगों के दो भाग थे—एक स्वतंत्र वर्ग और दूसरा दास वर्ग। दास वर्ग के लिये उसने कोई विभाजन की आवश्यकता नहीं समझी। वैदिक समाज संगठन में पैरों का भी महत्व समझा गया, अन्यथा पुरुष का पूरा दृष्टान्त लागू न हो सकता। यद्यपि पैर शरीर का सबसे निचला भाग है परन्तु उसका महत्व किसी

प्रकार कम नहीं है। लँगड़ा आदमी बुद्धि, शक्ति, धन में कितना ही बढ़ा चढ़ा क्यों न हो उसकी निर्बलता स्पष्ट है। दूसरी यह बात है कि मानव समाज में बहुत से ऐसे लोग हैं जिनमें न बुद्धि की ही भावना अधिक है, न शक्ति प्रदर्शन की, न भोग विलास की। वह इन तीनों भावनाओं से वंचित हैं। ऐसे आदमी शूद्र ही हो सकते हैं। इसलिये वैदिक समाज में शूद्रों की अपेक्षा प्रकृति की एक नैसर्गिक स्थिति की उपेक्षा करना है।

अब इसी चित्र का दूसरा पक्ष देखिए। सब अंग समान नहीं है इसलिये यह कहना असत्य है कि सब मनुष्य तुल्य हैं और यह कहना तो बिल्कुल गलत है कि ईश्वर की दृष्टि में सब बराबर हैं। जब ईश्वर सबको भिन्न २ पैदा करता है तो अपनी दृष्टि से उसके भेद को कैसे ओझल कर सकता है। इसलिए जिन लोगों ने समाज का निर्माण इस नियम के आधार पर कि सब मनुष्य बराबर हैं, किया वह सदा विफल रहे। प्रथम तो ऐसा कहने वालों ने समाज को वर्गहीन (Classless Society) बनाना चाहा। यह मानव प्रकृति के विरुद्ध था इसलिये वर्ग बने रहे। पूँजीपतियों की सम्पत्ति को लूटकर निर्धनों में बाँट दिया जिससे सब बराबर हो जायँ तब भी भेद बना रहा। जो धनी थे निर्धन हो गए, जो निर्धन थे धनी हो गए, समाज को बना न पाए क्योंकि नियम ठीक न था इसलिये शरीर की उपमा यह बताती है कि सब अवयव न एक से हैं

और न एक से हो सकते हैं।

तीसरा पक्ष यह है कि शरीर के अवयव भिन्न-भिन्न तो हैं, परन्तु असम्बद्ध नहीं और न स्वाधीन। एक आँख दूसरी आँख की सहायता से देखती है; कान हाथ की मदद चाहता है; पैर को आँख की आवश्यकता होती है; यहाँ तक नाखून और बाल जिनको प्रतिमाह कटवा देते हैं, शरीर के विकास में एक विशेष महत्व रखते हैं। इसलिए वेद में जो समाज की पुरुष से उपमा दी गई है उसने केवल एक ही बात पर बल नहीं दिया गया। यह एक ऐसी पूर्ण उपमा है जिससे उत्तम उपमा मिलना कठिन है। अब आप समझ सकते हैं कि वैदिक काल में समाजशास्त्र के विशेषज्ञों ने कितनी बुद्धिमत्ता से काम लिया था।

शरीर के विवेचन पर एक और दृष्टि डालिए। शरीर का हर अंग दूसरे अंग से सहानुभूति रखता है और उसके दुख को कम करने का प्रयत्न करता है। आप के पैर में एक फुंसी हो जाय तो शरीर के सब अंग दुखित हो जाते हैं और सहायता के लिए दौड़ पड़ते हैं। विशेषता यह है कि जब पैर की फुँसी में दर्द है तो सिर दर्द का तो अनुभव करता है परन्तु साथ ही उसको यह भी अनुभूति है कि दर्द पैर में है हाथ में नहीं। शरीर के जिस अंग को जितने भोजन की आवश्यकता होती है सम्पूर्ण शरीर उस अंग को आवश्यक भोजन पहुँचाता है। जब आप भोजन करते हैं तो आपके पेट को आवश्यकता होती है

कि अपना सम्पूर्ण बल भोजन के पचाने में लगा दे और जब आप पढ़ने बैठते हैं तो वही मस्तिष्क की ओर आकर्षित हो जाता है।

समाज का भी ऐसा ही चलन होना चाहिये। सब लोग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, इसलिये अच्छा समाज वह है जिसका हर व्यक्ति न आश्रित है, न अनाश्रित, न दास, क्योंकि दासता तभी होगी जब एक आश्रित हो और दूसरा अनाश्रित।

वैदिक समाज ने व्यक्तियों को चार कोटियों में बाँटा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और इनको उपमा दी है सिर, बाहु, पेट और पैर से। यह उपमा हिन्दू समाज में अब भी पाई जाती है। यह प्रसिद्ध है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य पेट से या जाँघ से और शूद्र पैर से। परन्तु भूल यह हो गई कि उपमा, उपमेय विपर्यय हो गया। तात्पर्य यह था कि जो आदमी सिर की भांति पथ-प्रदर्शन का काम करे उसको ब्राह्मण कहो और जो न कर सके उसको ब्राह्मण मत कहो, परन्तु कार्य उसके उलटा हुआ। जिसको ब्राह्मण समझा गया उसको सिर भी समझ लिया गया और उसका सत्कार भी किया गया। पथ-प्रदर्शन का कोई प्रश्न नहीं उठा, क्योंकि जिसमें योग्यता न हो वह प्रदर्शन का कार्य करे। इस प्रकार हिन्दुओं की जातियाँ जन्मजात हो गईं और गुणों की उपेक्षा की गई। स्वामी दयानन्द ने वेदों का अध्ययन करके इस भूल को संसार के समक्ष रखा और यह घोषणा की

कि ब्राह्मण वह नहीं है जो ब्राह्मण के घर में जन्म ले अपितु ब्राह्मण वह है जो वेदों का अध्ययन करके संसार के पथ-प्रदर्शन की योग्यता रखता हो। इस बात ने आर्य समाज और पुराने हिंदू समाज के बीच एक खाई पैदा करदी, परंतु प्रकृति जन्मजात अधिकारों को सिद्ध नहीं करती, इसलिये कार्यरूप में गुणों को प्रमुखता दी गई है—जैसे कोई अशिक्षित ब्राह्मण स्टेशनों पर पानी तो पिला सकता है और पानी पांडे कहला सकता है परन्तु उसको किसी विश्व विद्यालय में प्रोफेसर नहीं रख सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने जब यह आवाज उठाई कि चार वर्ण गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होना चाहिये तो सबसे अधिक विरोध ब्राह्मणों की ओर से हुआ क्योंकि विना योग्यता के भी वे सामाजिक अधिकारों का उपभोग कर रहे थे। परन्तु वस्तुतः इसमें दोष ब्राह्मणों का ही था क्योंकि जन्म के आधार पर अधिकारों का उपभोग करते हुये भी उन्होंने अपने को विद्या और तप से वंचित रक्खा। इसका परिणाम यह हुआ कि नाम के ब्राह्मण तो रहे परन्तु देश ब्राह्मणों से शून्य हो गया। आर्य समाज ने इस दृष्टिकोण के बदलने का यत्न किया है। इस प्रकार इस्लाम और आर्य समाज का अन्तर क्रमशः कम हो रहा है। इस्लाम में चार वर्ण तो नहीं हैं परन्तु प्राकृतिक भेद है उसकी मान्यता तो मुसलमानों में भी है। प्रकृति तो प्रकृति ही है और उसका अतिक्रमण किसी के वश में नहीं।

———

सत्रहवाँ अध्याय

पुराण

'पुराण' एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है 'प्राचीन'।

आरम्भ में पुराण उन घटनाओं के उल्लेख का नाम था जिसको इतिहास कहते हैं। इस इतिहास में समय-समय पर प्रक्षेप कर दिए गए। कुछ घटनाओं को विकृत कर दिया गया, कुछ को न्यूनाधिक्य कर दिया गया, कुछ घटनाओं का अलंकार, उपमाओं आदि से विकृत रूप हो गया। घटनायें कल्पनाओं पर आश्रित हो गईं। अत्युक्ति का प्रयोग किया गया। कहानी और कथानक बनाकर जोड़ दिए गए। स्वर्ग और नर्क की कल्पनायें हुईं; परियों और परिस्तानों के कथानक बने, पशु पक्षियों की कहानियाँ गढ़ी गईं। मिथ्यापूजन का बोलबाला हुआ। दादी और नानी की कहानियाँ नये रूप धारण कर प्रकट हुईं। संस्कृत के कवियों ने नए-नए काव्य बनाये और उनको धर्म ग्रन्थों में जोड़ दिया। इस प्रकार हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथों में पुराणों का विशेष स्थान है। पुराण संख्या में १८ हैं और उनके साथ उप पुराण भी उतने ही बताये जाते हैं। यह बड़े-बड़े मोटे ग्रंथ हैं और इनमें देवी-देवताओं की आश्चर्यजनक

उत्पत्ति, आश्चर्यजनक गृह-युद्ध, आश्चर्यजनक-विवाह संबंध, आश्चर्य जनक स्वर्ग और नर्क की कहानियाँ पाई जाती हैं।

उदाहरणार्थ एक कहानी देता हूँ। एक मौलवी साहब थे मौलवी वलीउल्लाह साहब। वह मुझे अरबी पढ़ाया करते थे। एक दिन वह पूछने लगे कि एक हिन्दू के देवते की मूर्ति में हाथी का मुँह है, यह क्या बात है ? उनके प्रश्न में कुछ उपहास की झलक थी। मैं समझ गया कि बहुधा मुसलमान घरों में हिन्दू देवी-देवताओं का मखौल उड़ाया जाता होगा। मैंने उनको बतलाया कि इस देवता का नाम गणेश है। उसका वर्णन वेदों में आया है, उसको गणपति कहते हैं। इसका अर्थ हुआ समुदायों (जातियों का) स्वामी। गण का अर्थ है समूह और ईश या पति का अर्थ है स्वामी। इतना स्वीकार करने में तो किसी को आपत्ति नहीं है कि गणपति का अर्थ ईश्वर है क्योंकि ईश्वर सब लोकों का स्वामी है। वेद में न तो हाथी का वर्णन है और न हाथी की सूंड़ का, परन्तु पुराण के लेखकों ने एक कहानी गढ़ ली जिसको हम नानी की कहानी तो कह सकते हैं। किसी धार्मिक सिद्धांत की विवेचना इससे नहीं होती। कहानी सुनिए; कहते हैं कि पार्वती जी अपनी कोठरी में बैठी हुई तपस्या कर रही थीं। उन्होंने अपने शरीर के मैल से एक लड़का बनाया और उसको द्वार पर खड़ा कर दिया—'बच्चे ! देखो कोई घर में घुसने न पाए'। बच्चा चौकीदारी करने लगा। पार्वती जी के पति थे महादेव जी। यह एक प्रसिद्ध बात

है, वह आ गए। लड़के ने रोका। महादेव ने कहा, 'मेरा घर है मैं जाऊँगा। तू कौन है ?' लड़का रोकने लगा। महादेव जी ने क्रुद्ध होकर उसका सिर काट लिया और घुस गये। पार्वती जी बड़ी नाराज़ हुईं। रोने चीखने लगीं। मेरे लड़के को मार डाला। महादेव जी असमंजस में पड़ गए। उसी समय दैवयोग से किसी हथिनी ने बच्चा दिया था। महादेव जी ने उसका सर काट कर बच्चे के सिर पर जमा दिया और बच्चा जीता जागता गणेश बन गया। तब से गणेश जी सूंड़ वाले बन गये जैसा कि हिन्दुओं के मन्दिरों में आज भी देखा जाता है। कहानी तो रोचक हो गई परन्तु धर्माध्यक्षों के लिए पहेली हो गई। इसी प्रकार की सैकड़ों कहानियाँ पुराणों में भरी पड़ी हैं और उनको धार्मिक रंग दे दिया गया। स्वामी दयानन्द ने इन पुराणों का विरोध किया। उन्होंने कहा कि यह धर्मशास्त्र नहीं हैं। यह गपोड़े हैं। इनमें कहीं कोई ऐतिहासिक या भौगोलिक घटना हो तो भी देवी देवताओं की कहानियाँ मिलाकर उनको विश्वास योग्य रहने नहीं दिया गया। जैसे राजा हरिश्चन्द्र की सत्यता की कहानी कही जाती है। वह एक प्रसिद्ध कहानी है जिसमें राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए हर प्रकार का कष्ट उठाया। यह एक शिक्षाप्रद कहानी है। कहते हैं महात्मा गाँधी जी के ऊपर इसका बड़ा प्रभाव था। परन्तु इस कहानी में भी देवी देवताओं का रंग मिलाकर कुछ ऐसी झूठी बदरंगी पैदा कर दी है कि खरे सोने के स्थान

पर मुलम्मेदार सोना प्रतीत होता है। क्या सच्चाई को दिखाने के लिए भी झूठ की आवश्यकता है? यह मैं बार-बार सोचा करता हूँ। और यही कारण है कि हरिश्चन्द्र के नाटक को देखकर माहत्मा गाँधी जैसा विरला व्यक्ति होगा जिसका जीवन इस कहानी से प्रभावित हुआ हो।

इस प्रकार के पुराण न केवल हिन्दुस्तान ही में हैं अपितु यूनान में भी देवी-देवताओं की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। जैसे हिंदुओं में कैलाश पर्वत प्रसिद्ध है उसी प्रकार का यूनान में ओलिम्पस (Olimpus) था जिस पर यूनानी देवी-देवते रहते हैं। रोम में भी इस प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं। उत्तरी यूरोप में भी यूरोप के ईसाई होने के पूर्व इस प्रकार के देवी-देवताओं की कहानियाँ प्रसिद्ध थीं। उदाहरणार्थ एक देवता था वोडन (Woden), दूसरा था थौर (Thor)। इनके नाम पर आजकल भी बुधवार को वेडनसडे (Wednesday) और बृहस्पति को थर्सडे (Thursday) कहते हैं। इसी प्रकार के पुराण इस्लाम में भी पाए जाते हैं।

इस्लाम के विद्वानों को कुछ खराब लगेगा कि पुराणों की कथाओं का इस्लामी पवित्र पुस्तकों से क्या सम्बन्ध है। परन्तु देवी देवताओं का वृत्त तो ऊपर ही दिखाई पड़ता है। सृष्टि का आरम्भ इस लोक से नहीं हुआ क्योंकि हजरत आदम स्वर्ग में उत्पन्न हुए और माँ हौवा भी स्वर्ग में ही उनकी पस्ली से उत्पन्न हुईं कही जाती हैं। यदि मनुष्य के शरीर के किसी

अवयव से कोई स्त्री उत्पन्न हो सकती है तो पार्वती के महल से गणेश जी उत्पन्न हो गये तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है। शैतान और आदम की स्पर्धा भी स्वर्ग में ही आरम्भ होती है। शैतान तो फरिश्तों में से एक था।

आग्नेय (अग्नि से उत्पन्न) मिट्टी का बनाया न था। स्वर्गीय-वातावरण में रहता था फिर यह आज्ञा भंग करने की प्रकृति कहाँ से आई। और जब शैतान और आदम की लड़ाई आरम्भ हुई तो आदम को जमीन पर पटक दिया गया और शैतान को भी उनका पीछा करने से रोका नहीं गया। इसका परिणाम तो यह हुआ कि बहकने और बहकाने वाला दोनों ने संसार पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया एक—काफ़िर बनने वाला दूसरा काफ़िर बनाने वाला।

ज़, जन्नत कुफ्र मीखेज़द, कुजा मानद मुसलमानी ॥

स्वामी दयानन्द जी का दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न था। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में एक स्थान पर प्रश्न उठाया कि संसार को ईश्वर ने क्यों बनाया ? क्योंकि प्रायः संसार को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता रहा है। यदि संसार न होता है तो बुराई न होती। स्वामी दयानन्द जी कहते हैं कि संसार में पाप से पुण्य अधिक है, झूठ से सच अधिक हैं, निर्दयता से दया अधिक है। अधर्मी को धार्मिक बनाने के लिए धार्मिक उपदेश भी तो संसार में ही होते हैं। स्वर्ग को प्राप्त करने और नर्क से बचने के लिए तैयारी भी तो यहीं करनी

पड़ती है। यदि संसार ईश्वर का बनाया हुआ है तो वह दोषा-रोपण और घृणा का पात्र नहीं।

आगे चलकर कुर्आन शरीफ में पुराणों जैसी कहानियाँ बहुत हैं। कुछ में तो ऐतिहासिक रंग है जिनको साहित्य कहना साहित्यकारों के लिए एक सिर दर्द होगा। इसके अतिरिक्त सुलैमान, हुदहुद, बिल्क़ीस आदि आदि बहुत सी कहानियाँ हैं, जिनका उल्लेख यद्यपि कुर्आन शरीफ में संकेत मात्र किया गया है, परन्तु उनके आख्यानों से हदीसे भरी पड़ी हैं। मेराज क्या है ? हज़रत मूजा ने कोहेतूर (तूर नामक पर्वत) पर दृश्य देखा वह वस्तुतः क्या था ? हज़रत इब्राहीम और हज़रत इस्माईल और यूसुफ जलेखा की कहानियाँ, इन सब पर आप हदीसे पढ़ जाइये।

स्वामी दयानन्द ने तो पुराणों को अप्रामाणिक कहकर आर्यसमाज के सिद्धान्तों को गपोड़ों से बचा लिया। इस्लाम के विद्वान् इस प्रकार के साहस से अशक्त रहे। स्वामी दयानंद से पूर्व बहुत से विद्वान सुधार का प्रयत्न करते रहे और सुधार किया भी परन्तु उनमें इतना साहस नहीं हुआ कि वह पुराणों का निषेध कर सकें। यही कारण था कि श्री शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य, महाकवि तुलसीदास, महाकवि सूर आदि आदि देवी-देवताओं की कहानियों के झमेले से ऊपर नहीं उठ सके और न मिथ्यावाद को नष्ट कर सके। उनका सुधार एक तंग (छोटी) चादर के समान है कि एक अंग ढाकिए तो दूसरा

खुल जाता है। सर सैयद अहमद साहब ने एक पुस्तक लिखी थी तब्ई नुल्कलाम। वह स्वामी दयानन्द के समकालीन थे। स्वामी दयानन्द सर सैयद के अतिथि भी रहते थे। परस्पर वार्तालाप भी होता ही होगा, वह यह भी जानते होंगे कि स्वामी दयानन्द ने वेदों पर बल देकर पुराणों को वैदिक साहित्य के क्षेत्र से वहिष्कृत कर दिया। सर सैयद साहब ने भी इस बात से लाभ उठाया होगा। क्योंकि तब्ई नुलकलाम में स्थान-स्थान पर ऐसे विषयों की मीमांसा की गई है जो कुर्आन शरीफ पर अधारित है। और जिनकी पुष्टि के लिए हदीसों का निषेध आवश्यक है। जैसे सर सैयद अहमद खाँ ने प्रश्न उठाया है कि आधुनिक ईसाई जगत में जिनको आदम कहा जाता है, ईसाई पादरियों की गणना के अनुसार आदम की उत्पत्ति का काल ईसा के पूर्व केवल चार हजार वर्ष तक पहुँचता है। यह बात तो इतिहासकारों की खोज के सर्वथा प्रतिकूल है। हिन्दू लोग तो महाभारत के युद्ध को आज से पाँच हजार पूर्व बताते हैं। सर सैयद अहमद साहब का कहना है कि इस आदम से पूर्व कोई आदम थे। इस प्रकार उन्होंने ने यह बताया है कि जिसको तौरेत या बाईबिल कहते हैं यह तो पहले लुप्त हो चुकी है। हजरत इजरा ने पुनः इनको सम्पादन किया।

हजरत मुहम्मद साहब के जीवन से सम्बन्धित बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका वर्णन हदीसों में है और इस्लाम के विरोधियों ने चाहे वह ईसाई हों या आर्यसमाजी इन हदीसों

के आधार पर बहुत कुछ अश्लील बातें हजरत मुहम्मद साहब से सम्बद्ध की हैं। इसी प्रकार की गंदगी श्रीकृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध में भी कही गयी है। आर्य समाज ने इसका सर्वथा निषेध किया। आर्य समाज कहता है कि जो श्रीकृष्ण गीता जैसी पुस्तक के उपदेष्टा थे वह एक उच्चकोटि के योगी थे, वह भागवत में वर्णित कृष्ण नहीं हो सकते। क्या इस्लाम के विद्वान हदीसों का निषेध नहीं कर सकते। हदीसों में भी न कुछ कम विश्वसनीय है और कुछ अधिक विश्वसनीय हैं। उनमें कुछ ऐसी बातें भी हो सकती हैं जिनसे हजरत मुहम्मद साहब की जीवनी पृथक समझना असम्भव (कठिन) है। जैसे बहु विवाह। फिर भी बहुत सी ऐसी गंदगी है जिनसे इस्लामी धर्म को पाक किया जा सकता है। पर धर्म में अच्छे और बुरे आदमी होते हैं परन्तु यदि बुरे आदमियों को सम्मानित और अनुकरणीय न समझा जाय तो उनसे साधारण जनता सुरक्षित रहती है।

अठारहवाँ अध्याय

ऋषि और पैगम्बर

आर्य समाज और इस्लाम दोनों का यह विश्वास है कि जब ईश्वर संसार को बनाता है और मनुष्य को उत्पन्न करता है तो उसके लिए कुछ *पथप्रदर्शन* भी करता है। जिन लोगों के द्वारा ईश्वर का (आदेश) उपदेश मनुष्य तक पहुँचाता है वह भी मनुष्य ही होते हैं। मुसलमान उनको पैगम्बर और आर्य समाजी उनको ऋषि कहते हैं। परन्तु इस मौलिक सिद्धान्त के शाखान्तर में बहुत भेद हो गया है। सबसे पहली बात तो यह है कि ईश्वर की ओर से जो पथ-प्रदर्शन होता है वह भाषा अर्थात् शब्द, अर्थ और इनके पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा होता है। भाषा को मनुष्य मुख से बोलता है, विचार मन में रखता है। शब्द और विचार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कोई शब्द विचार रहित नहीं मिलेगा। कोई विचार न होगा जिसके लिए कोई शब्द न हो। इस विषय में प्रायः यह प्रश्न उठाया गया है कि, कुत्ते और बिल्ली विचार रखते हैं। वह हमारे समान सोचते हैं, सुख दुख का अनुभव करते हैं, परन्तु हमारे समान बोलते नहीं। फिर भी यदि गहरी

दृष्टि से देखा जाय तो हम इन्कार नहीं कर सकते कि कुत्ते और बिल्ली भी अपनी भावनाओं का प्रदर्शन मुख द्वारा ही करते हैं। कुत्ते को मारिए वह चीखता है, वह अपने दुख का प्रदर्शन अन्यथा नहीं करते। सबसे पहले चोट खाते ही उसकी जिह्वा में गति उत्पन्न होती है। इससे पता चलता है कि भावनाओं के प्रकाशन का सबसे अच्छा साधन जो परमात्मा ने हमको दिया है वह जिह्वा है और जिह्वा से निकले हुए शब्द हैं। विचार कोई एक मोटी सी चीज नहीं अपितु छोटे-छोटे बहुत से तंतुओं का बटा हुआ एक मोटा रस्सा है। जो तंतु निज रूप में अलग-अलग तंतुओं से बनाए जा सकते हैं उनके लिए अलग-अलग शब्द चाहिए। यही कारण है कि जिस मनुष्य का मस्तिष्क सूक्ष्म विचार रखता है उसकी भाषा भी अधिक परिपूर्ण होती है। यह हुआ शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का एक प्रकार।

जब ईश्वर ने मनुष्य को बनाया तो उनमें पथ-प्रदर्शक भी थे और अनुकरण करने वाले भी अर्थात् गुरु और शिष्य दोनों, जैसे किसी विद्यालय में आरम्भ से ही अध्यापक और छात्र दोनों होंगे। अध्यापक वह होता है जिसने पहले से विद्या प्राप्त की होती है। शिष्य वह है जो गुरु से विद्या प्राप्त करता है। आर्य समाज के सिद्धांत के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में जो ऋषि उत्पन्न होते हैं, वह वही होते हैं जो अपने पुराने जन्मों में इस वर्तमान कल्प से पूर्व कल्पों में विद्या सम्बन्धी शक्तियों

को बढ़ा चुके हैं; जिनके हृदय रूपी दर्पण में सृष्टि के नियमों की प्रतिच्छाया ठीक-ठीक पड़ सके उन्हीं को ऋषि कहते हैं। इस्लाम की भाषा में इनको पैगम्बर कहा है। इस विषय में कोई अधिक भेद नहीं है। सृष्टि के नियमों की अनुभूति और ईश्वर प्रदत्त ज्ञान समानार्थक हैं। सृष्टि के नियम भी तो ईश्वर के संदेश हैं।

हरेक बर्ग शाहिद है अज़्मत की तेरी
हरेक गुल में तुझको खिला देखता हूँ ॥

जो ईश्वर का संदेश हम तक लावे वह पैगम्बर है। इस अर्थ में हर उस्ताद पैगम्बर है। छोटे स्कूलों में गिनती सिखाने वाला और बड़े कालेजों में ज्योतिष सिखाने वाला दोनों ही पैगम्बर हैं। संस्कृत भाषा का शब्द 'ऋषि' दोनों पर लागू होता है। कहा है कि ऋषि मंत्र-द्रष्टा होते हैं अर्थात् सृष्टि के नियमों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। सृष्टि के नियम बड़े सूक्ष्म होते हैं। इनके तत्व को समझने के लिये आँख चाहिये। यह आँख ऋषियों को दी जाती है। न्यूटन ने एक सेब को वृक्ष से गिरते देखकर यह परिणाम निकाला कि भूमि में एक आकर्षण है जो हर वस्तु को अपनी ओर खींचती है। इस अर्थ में न्यूटन एक ऋषि या पैगम्बर था। स्वामी दयानन्द ने एक चूहे को देखा और इससे यह परिणाम निकाला कि पत्थर की मूर्तियाँ ईश्वर नहीं हैं। हम स्वामी दयानन्द को ऋषि कहते हैं, पैगम्बर भी कह सकते हैं। यह है आर्य समाज का मत। मुसलमानों का

दृष्टिकोण भी मूलतः अधिक भिन्न नहीं है। परन्तु आगे चल कर बहुत बड़ा भेद पड़ गया। उनकी धारणा है कि ईश्वर का आदेश-ग्रंथ किसी पुस्तक या उसी प्रकार के किसी और रूप में स्वर्ग में सुरक्षित है जिसे अरबी में लौहे महफ़ूज (सुरक्षित पट्टिका) कहते हैं। ईश्वर इस पुस्तक को किसी फरिश्ते के द्वारा किसी एक चुने हुए मनुष्य को भेज देता है; उसको वह वही या इल्हाम कहते हैं। कुर्आन शरीफ इसी प्रकार का एक इल्हाम है। आर्य समाज की परिभाषा में वेद ईश्वर वचन है, अर्थात् ईश्वर की ओर से उपदेश है। अब आप इन दो दृष्टि-कोणों के भेद की जाँच कीजिए जिनको आप विशेषताएँ कह सकते हैं। प्रथम तो यह बात है कि आर्य समाजियों का यह विश्वास है कि हम उसी वचन को ईश्वर वचन कह सकते हैं जो सृष्टि के आरम्भ में हो। पठन-पाठन की परम्परा चली, गुरु भी हुए और शिष्य भी, इसको ईश्वर का वचन नहीं कह सकते, यद्यपि वह भी ईश्वर के वचन पर आधारित था। उसी नींव पर एक अलग भवन बन गया। इस प्रकार यद्यपि आज लाखों अध्यापक करोड़ों बच्चों को गिनती तथा पहाड़ा सिखाते हैं परन्तु न यह ईश्वर वचन इल्हाम है न वे मुल्हिम (ऋषि)। जिन्होंने सबसे पहले बच्चों को गिनती और पहाड़े सिखाये वे मुल्हिम भी थे और वह इल्हाम भी था। इस प्रकार आर्य-समाज की दृष्टि में पुराने ऋषियों ने परमात्मा से भाषा के रूप में ज्ञान प्राप्त किया और लोगों को सिखाया। यह वेद थे।

इनको वेद की वाणी भी कहा है। वाणी का अर्थ है जिह्वा और वेद का अर्थ है ज्ञान अर्थात् वह शब्द जिनमें ज्ञान निहित हो। यह बात केवल सबसे प्रथम शिक्षा के ऊपर ही लागू हो सकती है। यह ईश्वरीय-वचन सृष्टि के आरम्भ में ही आता है पीछे नहीं, तत्पश्चात् तो मनुष्य की भाषा का उपराग होने लगता है। आर्य समाज का कथन है कि वेदों की भाषा तो आरम्भिक ईश्वर की भाषा है। अन्य भाषाओं में मानवीय उन्नति अवनति और परिवर्तन का उपरंजन हो गया। इस सिद्धांत के अनुसार इस्लामी मंतव्य की जो इल्हामी पुस्तकें हैं, अर्थात् तौरात, जबूर, इंजील, कुरान यह कोई आरम्भिक ग्रंथ नहीं हैं और न मानवीय उपरंजन से सुरक्षित समझे जा सकते हैं। हर पैगम्बर की हिदायत के लिए संसार में पूर्ण साधन विद्यमान रहते हैं। इसलिए कैसे माना जाय कि उपदेश का अमुक भाग सीधा ईश्वर से आया है (अर्थात् इसमें मनुष्य की मिलावट नहीं है)। योग-दर्शन में एक सूत्र आता है—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः ।

अर्थात् ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है।

जो प्रारम्भिक गुरु थे उनका कोई और गुरु तो हो ही नहीं सकता। परन्तु जिनको मुसलमान लोग पैगम्बर मानते हैं जैसे हजरत मूसा, हज़रत दाऊद, हजरत ईसा, हज़रत मुहम्मद साहब आदि। इन सब के वचनों से ही ज्ञात होता है कि उनको पढ़ाने वाले दूसरे थे। इसी प्रकार हम स्वामी दयानन्द को

हादी (उपदेष्टा) तो मानते हैं परन्तु ऐसा हादी नहीं जिसने दूसरे ऋषियों से हिदायत न पाई हो। और उनकी गणना हम प्रारम्भिक ऋषियों में नहीं करते।

इसके अतिरिक्त जिनको इस्लाम ने पैगम्बर माना है उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए उनको शफ़ीय भी माना है। साधारण भाषा में मुहम्मद साहब केवल पैगम्बर ही नहीं वरन् बिचौलिया या शिफारिस करने वाले भी हैं। डाकिया का काम तो चिट्ठी देकर समाप्त हो जाता है। पैगम्बर का कार्य केवल पैगम्बर के साथ समाप्त नहीं होता। वह तो क़यामत तक चलता रहता है। पैगम्बर एक उम्मत (सम्प्रदाय) बनाता है। वह उम्मत शिक्षा के अतिरिक्त पैगम्बर से यह भी आशा रखती है कि जब सज़ा व जज़ा (कर्मफल) का आखिरी दिन आवे तो ईश्वर से वह शिफारिस भी करे। कतिपय विद्वानों ने शिफ़ायत की व्याख्या भी की है। जो अनिष्ट परिणाम शिफ़ाअत के सिद्धान्त से उत्पन्न होते रहे हैं उन पर पर्दा डालने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु सर्वसाधारण में यह विश्वास इतना ओत-प्रोत हो गया है कि यदि शिफ़ायत के सिद्धांत को इस्लाम धर्म से निकाल दिया जाय तो इस्लाम को नींव हिल जायगी। इसलिये ऊपरी व्याख्या के सम्बन्ध के साथ-साथ शफ़ाअत के सिद्धान्त का निषेध नहीं किया जाता; यदि किया भी गया तो बड़ी सावधानी के साथ जिससे इस दर्पण में ठेस न पहुँचे।

पैगम्बरों के प्रश्न के साथ एक और महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा होता है। हज़रत मूसा के बाद जब हजरत दाऊद आए तो एक सहीफा (पुस्तक) लाए और प्राचीन पुस्तक को रद्द कर दिया। हजरत मूसा के पैगम्बरी का काल भी उसके समस्त गुणों के साथ रद्द कर दिया गया। प्रश्न यह है कि कौन सी रस्म व रिवाज रद्द हुई? और जो कानून रद्द कर दिया था उसके स्थान पर कौन सा नया कानून या कौन से रस्मोरिवाज जारी किए गए? यह प्रश्न हजरत मुहम्मद साहब तक जाएँगे। यह ज्ञात नहीं है इन बातों का कोई क्रमशः उल्लेख ईसाई और मुसलमान विद्वानों ने ब्यौरेवार किया है अथवा रद्द करने का सिद्धान्त (तंसीख) केवल अनिश्चित रीति से आड़ के लिए मान लिया गया है। मुझे तो अब तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं दिखाई दी। यदि ऐसा कोई विस्तृत वर्णन नहीं है तो इल्हाम और मुल्हिमों की तबदीली का कोई प्रश्न नहीं होता। इस प्रश्न के पश्चात् एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि आप मुहम्मद को अन्तिम (आखिरी) मुल्हिम और क़ुर्आन शरीफ को आखिरी इल्हाम मान लें। शायद ईसाई और यहूदी ऐसा मानने के लिए तैयार नहीं होंगे फिर भी यदि रद्दो-बदल की आवश्यकता समझी जाय तो वह आवश्यकता हज़रत मुहम्मद साहब के बाद क्यों समाप्त हो जाती है और उनको आखिरी रसूल क्यों माना जाता है। इस प्रश्न का इस्लामी विद्वानों के पास कोई उत्तर है नहीं।

कुछ व्यक्तियों ने यह कहना आरम्भ किया है कि पहली दुनिया में विकास था अर्थात् क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति हो रही थी अब वह विकास की परम्परा परिपूर्ण हो गई, इसलिए इल्हाम और मुल्हिम भी पूर्णता के अन्तिम पद को पहुँच गए। आगे उन्नति की आवश्यकता नहीं। युक्ति केवल मन बहलाने के लिए है। ऐसा दावा तो पहिले मुल्हिम भी कर सकते थे। यहूदी लोग तो यह नहीं कहते कि हजरत मूसा के बाद किसी और पैगम्बर की आवश्यकता शेष रहती है और न ईसाई लोग हजरत ईसा के बाद दूसरे ईश-पुत्र की आवश्यकता समझते हैं। आखिर ईसा थे तो ईश्वर के इकलौते बेटे फिर दूसरे पुत्रों का क्या प्रश्न ?

आर्य समाज के ऋषियों की मान्यता अन्यथा है। वह ईश्वर के नियमों को परिवर्तनशील नहीं मानते। वेदवाणी में भी कोई परिवर्तन नहीं मानते। मुल्हिमो (देवदूत) के बार-बार होने की आशा भी नहीं करते, न दावा करते हैं। जो ऋषि हो चुके हैं या होंगे वह वेदों के जानने वाले और अनुसरण करने वाले होंगे। वह न तो किसी के कानून को मंसूख करेंगे और न किसी मुल्हिम की संधि को रद्द करेंगे। अविद्या और विद्या दोनों अपने-अपने स्थान पर आते और जाते रहेंगे। किसी ऋषि ने कोई नया धर्म नहीं चलाया न किसी ने अवतार होने का दावा किया। यह ठीक है कि वैदिक संस्कृति के ह्रास पर भारतवर्ष में भी बहुत से गुरु, संत, या पंथ वाले उत्पन्न

हुये। उन्होंने अपने चेले चेलियाँ भी बनाईं परन्तु आर्य समाज और स्वामी दयानन्द ने उनको सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा। उनका विचार है कि ऐसे पंथ सत्य धर्म के मार्ग में बाधक हैं और मनुष्य-पूजा का अनुमोदन करते हैं। मनुष्य-पूजा मूर्ति-पूजा है। यह नक्षत्र-पूजा के समान ही निन्दनीय है और आर्य समाज इसके विरुद्ध है। जितनी मूर्ति-पूजाएँ हैं वह मनुष्य-पूजा का परिणाम हैं और जितनी नक्षत्र-पूजा है वह भी मनुष्य-पूजा से सम्बन्ध रखती है। जैसे कहते हैं कि आस्मान में जो तारा 'अगस्त' चमकता है वह 'ऋषि अगस्त' है जो मृत्यु के उपरान्त तारा बन गए। इसी प्रकार दूसरे देशों के पुराणों में भी कहानियाँ मिलेंगी।

उन्नीसवाँ अध्याय

यज्ञ और कुर्बानी

'यज्ञ' संस्कृत का शब्द है। यज्ञ वेद के उन शब्दों में से है जिसके साथ बड़ा अन्याय किया गया है। सर्व-साधारण का विचार है कि प्राचीन काल के आर्य लोग बड़े-बड़े यज्ञ किया करते थे, जिनमें देवताओं को प्रसन्न करने के लिए या उनकी अप्रसन्नता से बचने के लिए, भेड़, बकरी, गाय भैंस, घोड़ा यहाँ तक कि कभी-कभी नरबलि भी दी जाती थी। इसलिये यज्ञ का अर्थ यह हुआ कि यज्ञ वह धार्मिक रीति है जिसमें देवता को प्रसन्न करने के लिए अग्नि को प्रज्वलित करके पशु की बलि दी जाय।

वेदों को देखने से पता चलता है, कि यह सब सर्वथा मिथ्या है। संस्कृत शब्द 'यज्ञ' संस्कृत धातु 'यज्' से बना है। यज् का अर्थ है (१) देव-पूजा, (२) संगति करण अर्थात् दो वस्तुओं को मिलाकर तीसरी वस्तु बनाना, (३) दान। इन तीन अर्थों में यज्ञ शब्द का प्रयोग होता है। आर्य लोगों के दैनिक कृत्यों में पाँच मौलिक कृत्यों का उल्लेख है जिनको पाँच महा-यज्ञ कहते हैं। वे महायज्ञ ये हैं (१) ब्रह्म यज्ञ, अर्थात् ईश्वर

की उपासना। इस्लामी भाषा में कह सकते हैं कि निमाज पढ़ना ब्रह्म यज्ञ है क्योंकि संध्या, उपासना और वेद का पाठ ब्रह्म यज्ञ कहलाते हैं। (२) देव यज्ञ अर्थात् हवन करना और सुगंधित वस्तुओं को मिलाकर आग में जलाना जिससे वायु की अशुद्धि दूर हो और शुद्ध वायु मिल सके। (३) तीसरा पितृ-यज्ञ अर्थात् माता पिता और बड़ों की सेवा करना। (४) अतिथि यज्ञ, यदि कोई साधु, विद्वान्, पंडित असमय, बिना सूचना के आपके घर आ जाए तो वह आपका अतिथि है। उसकी सेवा करना आपका धर्म है। (५) बलि वैश्व-देव यज्ञ अर्थात् कुत्ता, गाय, पक्षी आदि जीवधारियों को अपने खाने में से कुछ भाग निकालना। यह पाँच महायज्ञ कहलाए। यह बहुत छोटी दैनिक प्रथाएँ हैं जिनमें न अधिक धन की आवश्यकता है न समय की। उनको महायज्ञ इसलिये कहते हैं कि इन कर्तव्यों का पालन करना मुख्य धर्म है और न करना पाप है।

निर्धन से निर्धन आदमी भी अपनी परिस्थिति के अनुकूल उन पाँचों कर्तव्यों का पालन कर सकता है। इनमें से सब में न आग ही जलाई जाती है और न किसी पशु की बलि दी जाती है। आजकल भी कुछ दिनों से यज्ञ शब्द का प्राचीन मौलिक अर्थ में प्रयोग होने लगा है। जैसा आचार्य विनोबा भावे ने भूमि के दान को भू-यज्ञ कहा है। कई वर्ष हुए एक प्रसिद्ध नेत्र-चिकित्सक ने निर्धनों को आँखों का मुफ्त इलाज किया और

उसको नेत्रयज्ञ कहा। वेद के यज्ञ का मौलिक रूप यही था। जब लोग वैदिक धर्म को भूल गए और मांस भक्षण की प्रथा पड़ी तो बड़े-बड़े पशुओं का वध करके अग्नि में जलाने लगे। किसी का नाम अश्वमेध यज्ञ हुआ, किसी का नरमेध आदि आदि। अश्वमेध शब्द ऋग्वेद में पाँच स्थान पर आया है और उसके साथ यज्ञ शब्द नहीं आया और यह अश्वमेध एक राजा का नाम था। अश्वमेध का शाब्दिक अर्थ होगा तीव्र बुद्धि। मेधा कहते हैं बुद्धि को और अश्व का अर्थ हुआ तीव्र। घोड़े को अश्व इसलिये कहते हैं कि वह तेज दौड़ता है। अब आप जान सकते हैं कि शब्द किस प्रकार बिगाड़े जा सकते हैं। मुझे तो कुर्बानी शब्द भी ऐसा ही लगता है। सम्भव है आरंभ में ईश्वर-सान्निध्य समानार्थक समझे गए होंगे।

कुर्ब जिससे हो खुदा का वही कुर्बानी है
कुश्तने नफ्स हो खूँरेजीए हैवान न हो ॥

इस्लामी या ईसाई कहानियों में कुर्बानी का उल्लेख हजरत काबील से सम्बद्ध किया जाता है। हजरत आदम के दो बेटे थे, हाबील और काबील। यह दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव के थे। आपस में शत्रु भी थे। हाबील ने ईश्वर को खुश करने के लिए कुछ जड़ी बूटियाँ प्रस्तुत कीं। काबील ने पशुओं का वध किया। ईश्वर को काबील की भेंट अधिक प्रिय लगी। सम्भव है कि इस कहानी के आधार पर पशु वध की प्रथा चल पड़ी हो, परन्तु इसको उचित नहीं समझा गया। हजरत मूसा के दस उपदेशों

में एक उपदेश है, 'हत्या मत कर' "Thou shalt not kill" इससे पता चलता है कि यहूदियों में भी जानवरों की क़ुर्बानी को अच्छा नहीं समझा गया। परन्तु यह क़ुर्बानियाँ बनी रहीं। यूनानी और रोम वालों में भी क़ुर्बानियाँ की जाती थीं। ईसाइयों ने इन क़ुर्बानियों को छोड़ दिया, सर्वथा त्याग दिया परन्तु इसका कारण दूसरा बताया गया है जिससे क़ुर्बानी की भावना बनी रही। ईसाइयों ने कहा कि जब खुदा का बेटा खुद अपने की क़ुर्बानी कर चुका तो अब क़ुर्बानी की जरूरत नहीं रही। परन्तु मुसलमानों ने इस प्रथा को जारी रखा और वह ईद के दिन क़ुर्बानी करते हैं। इसको 'सुन्नते इब्राहीमी' (इब्राहीमी प्रथा) कहते हैं। हम ऊपर लिख चुके हैं कि हिन्दू लोग तो कुछ ऐसे देवताओं को मानते थे जो रुधिर-प्रिय थे और उनके लिए पशुओं की क़ुर्बानी की जाती थी जैसे कलकत्ते की काली माई। मुसलमान किसी ऐसे ईश्वर पर विश्वास नहीं रखते हैं फिर वे इस रक्तग्राही प्रथा को क्यों अपनाए हुये हैं। हजरत इब्राहीम और इस्माईल के कथानक से तो यह भी प्रतीत होता है कि यह प्रथा हजरत इब्राहीम से पूर्व नहीं थी और वर्तमान रूप में यह हजरत इब्राहीम के त्याग का अनुकरण भी नहीं है। वह तो अपने प्रिय पुत्र को ईश्वर की आज्ञा में त्याग करने के लिये उद्यत हो गये। इसका यही अर्थ है कि ईश्वर की आज्ञा के पालन में प्रिय से प्रिय वस्तु के त्याग के लिए उद्यत रहना चाहिए, परन्तु मुसलमान ऐसा तो नहीं करते। यदि कोई

मुसलमान अपने बच्चे को कुर्बान करने लगे और ईश्वर दया करके बच्चे को किसी अलौकिक चमत्कार से बचा दे और किसी गाय की कुर्बानी करदे तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हो । क्योंकि गाय की जान से बच्चे को जान अधिक मूल्यवान है, परन्तु कोई ऐसी भावना नहीं है। इब्राहीमी प्रथा के अनुचित अनुकरण में लाखों पशुओं की गर्दनें काट दी जाती हैं और उनके मांस से दावतें की जाती हैं। यह तो कुर्बानी के किसी अर्थ में नहीं आता। तमाशा ही नहीं अपितु महापाप है। कुरान शरीफ में खून को निषिद्ध माना गया है। मैं तो यह समझता हूँ कि वहाँ खून का अर्थ है खून बहाना अर्थात् हत्या परन्तु दुर्भाग्य है कि इस्लाम के विद्वानों ने इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया; न उनकी कुर्बानी की प्रथा इसको स्वीकार करने की आज्ञा देती है। बहुत से धर्माध्यक्ष तो सीमा का उल्लंघन कर जाते हैं। वे यह अवसर ही नहीं देते कि कोई सुधारक किसी प्रथा के उज्ज्वल पक्ष पर विचार कर सके। मैंने एक खुतबा (ईद के दिन का उपदेश) में पढ़ा जो ईद के दिन पढ़ा जाता है,

इन्नल्लाह, यग़ाफ़िरुज़्ज़ोनूब कुल्लहा बेऔवले क़तरतिन् तक़्तोरो मिन् दामिल् हैवाने—फ सम्मेनू ज़हायाकुम् फइन्नहा अलस्सेराते मतायाकुम् व मौसिलतुन् इला दारिल्जनाने ।

अर्थ—बेशक अल्लाह तआला तमाम गुनाहों को बक़्श देता है उस पहले कतरे के बदले में जो (जमीन पर) जानवर के खून से टपकता है, पस मोटा करो तुम अपने कुर्बानी के पशुओं को क्योंकि वह

सिरात (स्वर्ग का पुल) पर तुम्हारी सवारियाँ हैं और तुमको जन्नत (स्वर्ग) तक पहुँचाने वाली हैं।

जब इतने भड़काने वाले खुत्बे दिये जाएं तो सर्व साधारण की क्या भावना होगी—

गर हमीनस्त रहबरें कामिल–पैरवाँ रा चे हाल खाहद शुद

यदि ऐसे ही पथ प्रदर्शक हों तो पीछे चलने वालों का क्या हाल होगा।

कोई यह नहीं पूछता कि श्रीमान् जी हम तो हर साल खून की लाखों बूंदें बहा देते हैं और स्वर्ग अब भी बहुत दूर है।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि वैदिक यज्ञों में पशुओं को मारा नहीं जाता था। कुछ दिनों के पश्चात् इस विशाल देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में शताब्दियों के उथल-पुथल के कारण यज्ञों में पशुओं के मारने की प्रथा चल पड़ी और वह इतनी बढ़ी कि भूमि थर्रा उठी। यज्ञ शालाएँ बूचड़ खाने बन गए। जब यज्ञ करने वालों में एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ लग गई तो एक यज्ञ में सैकड़ों पशु मारे जाने लगे। इसी का परिणाम हुआ कि महात्मा गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म की नींव डाली और महावीर स्वामी ने जैन धर्म की। इन दोनों का सिद्धांत था कि किसी प्राणी को पीड़ा नहीं देनी चाहिये। अहिंसा परम धर्म है। इसलिए उन्होंने समस्त यज्ञों का पूर्णतया निषेध कर दिया और साथ ही ईश्वर के अस्तित्व और वेदों की पवित्रता से भी इनकार किया, क्योंकि जानवरों की बलि देने के समय वेदमंत्र

पढ़े जाते थे और ईश्वर की स्तुति की जाती थी। बौद्ध और जैन धर्मों का कहना यह था कि न हम ऐसे मूजी ईश्वर के मानने वाले हैं कि जिसको प्रसन्न करने के लिए इतने प्राणी मारे जाएँ और न ऐसी पुस्तकों को धर्म-शास्त्र मान सकते हैं जिसमें ऐसी हत्या का विधान हो। अहिंसा तो वेदों की शिक्षा का भी एक आवश्यक भाग है। योग दर्शन में कहा है कि हिंसा करने वाला, हिंसा कराने वाला और हिंसा का अनुमोदन करने वाला (कृत, कारित, अनुमोदित) तीनों पापी हैं इसलिए भारतवर्ष में जैन तथा बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ गया। परन्तु लोगों को वेद और ईश्वर का निषेध अच्छा नहीं लगा। वह इसको सहन न कर सके, इसलिए हिन्दुओं के बहुत से सम्प्रदायों में पशु हिंसा तो छूट गई परन्तु यज्ञों की कुर्बानियों (बलियों) की भिन्न-भिन्न प्रकार की व्याख्याएँ की गईं। जैसे हिन्दुओं की प्रायः यह धारणा है कि गाय का मारना सत्युग में विहित था क्योंकि उस युग के ऋषि मुनियों में यह शक्ति थी कि वह मुर्दों को जिन्दा कर देते थे। अब चूँकि यह शक्ति नहीं रही इसलिये कलयुग में गाय का मारना भी पाप है। कभी-कभी इस प्रकार की भावनाओं के संकेत संस्कृत के काव्यों और नाटकों में भी मिलते हैं जिससे लोग यह कहने लगते हैं कि प्राचीन काल के मनुष्य तो गाय मारते थे। आर्य समाज ने वेदों की छान-बीन करके यह बताया है कि न तो वेदों में पशु-हिंसा का वर्णन है और न सत्युग में पशु-हिंसा होती थी।

और न अब होनी चाहिये। स्वामी दयानन्द ने कहा है कि वेदों की शिक्षा तो यह है कि हर प्राणी को मित्र की दृष्टि से देखो—

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

अर्थात्—सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखो।

उन्होंने कहा कि बौद्ध और जैन धर्म का मूल यह है कि उन्होंने ईश्वर और वेदों का निषेध किया। उनको पशु हिंसा रोकनी चाहिये थी। उनको यज्ञ नहीं रोकना चाहिये था क्योंकि यज्ञ तो जैसा कि हम इस अध्याय के आरम्भ में लिख चुके हैं अत्यन्त पाक पवित्र कार्य है। कोई माँसाहार का विरोधी अपना रसोई घर तो बन्द नहीं कर देगा। पाप यज्ञ करने में नहीं है यज्ञ में पशु मारने में है। इसी प्रकार यदि मुसलमान लोग भी इस बात को स्वीकार कर लें कि धर्म के मार्ग में अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु का त्याग कर देना महान् पुण्य है परन्तु कुछ पैसों में पशु लेकर उनका वध कर देना किसी प्रकार उचित नहीं है, तो उनका ईद का त्यौहार भी रक्तपात के दोष से बच सकता है।

जब मैं रमजान के पश्चात् को ईदुल्फित्र के त्यौहार को देखता हूँ तो मुझे बहुत प्रसन्नता होती है। मुसलमानों की टोलियाँ अच्छे-अच्छे कपड़े पहने हुए अति आनन्दपूर्वक मस्जिद या ईदगाह में निमाज पढ़ने जाते हैं और ईश्वर को धन्यवाद देते हैं कि उसने रोज़ा रखने की शक्ति दी। उस दिन

११

मुझे प्रायः हिन्दुओं की होली की याद आ जाती है और मैं लज्जित होता हूँ कि जिस भ्रान्ति पूर्ण रीति से होली मनाई जाती है। उसका भली भाँति अनुभव वह मनुष्य कर सकता है जो होली खेलने के पश्चात् एक मिनट के लिए अपना मुख दर्पण में देख ले। हिन्दुओं के दूसरे त्यौहार भी इसी प्रकार बिगड़ गए हैं। दिवाली पर जुआ खेला जाता है। और साधारण लोगों की धारणा है कि जो दिवाली पर जुआ नहीं खेलता वह दूसरे जन्म में गधा होगा। मेरे एक चचा थे जो जुआ कभी नहीं खेलते थें परन्तु दिवाली के दिन वह एक पैसा किसी आदमी को दे दिया करते थे कि तुम मेरी तरफ से जुआ खेलना और हारूँ या जीतूँ वह मुझे दे देना। आर्य समाज ने इन सब रस्मों को दोषों से पवित्र कर दिया। होली एक वर्ष के अन्त और दूसरे वर्ष के आरम्भ का एक बहुत बड़ा यज्ञ करने का दिन है। आर्य समाज में ऐसे यज्ञ आरम्भ हो गए हैं।

बीसवाँ अध्याय

रस्म-रिवाज

मुझे मुसलमानों की बहुत सी रस्में बहुत अच्छी लगती हैं और मैं चाहता हूँ कि आर्यसमाज भी उनको अपना ले। आप शायद पूछें कि फिर तुम मुसलमान क्यों नहीं हो जाते। प्रश्न सिद्धान्तों का है। इस्लाम धर्म के साथ मेरी सैद्धान्तिक अनुकूलता नहीं। यह आपको पिछले अध्यायों से पता चल गया होगा। सिद्धान्त ध्येय बताते हैं और रस्म-रिवाज मार्ग। एक नियत स्थान पर पहुँचने के लिए कई उलटे, सीधे, लम्बे, छोटे मार्ग हो सकते हैं। देखा जाता है कि कुछ लोग तो रस्म, रिवाज के बहुत पाबन्द हैं, पाबन्द ही नहीं गुलाम हैं। वह सिद्धान्त छोड़ देते हैं परन्तु रस्म नहीं छोड़ते। कुछ लोग ऐसे हैं जो रस्म रिवाज को सर्वथा अनावश्यक समझते हैं इसलिए वह रस्मों की पाबन्दी छोड़ देते हैं।

ईश्वर का स्मरण एक ध्येय है या सिद्धान्त है। यह कई प्रकार से किया जा सकता है। उपासना के विषय में बहुत सी प्रथाएँ हैं जो भिन्न-भिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न हैं। कुछ लोग इन प्रथाओं की महत्ता न समझने के कारण

त्याग देते हैं और समझते हैं कि हमने सन्ध्या न की तो क्या हम ईश्वर को तो याद रखते हैं। मेरी समझ में यह दोनों भूल करते हैं। उदाहरण लीजिए चावल और धान का। जिस धान में चावल नहीं वह भूसी मात्र है। इसलिए जिन प्रथाओं में मौलिक महत्ता को भुला दिया गया वह भूसी के समान हैं, परन्तु ईश्वर ने चावल के ऊपर एक छिलका भी उत्पन्न किया है जो चावल को सुरक्षित रखता है। यदि छिलका न हो तो चावल भी आप लोगों को उपलब्ध न हो सकता। इसलिए मेरा मत है कि किसी सिद्धांत की रक्षा करने के लिए ऊपरी रस्मों की भी आवश्यकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि धान में चावल न हो भूसी भूसी हो। रस्म-रिवाज में मौलिकता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

मैं यह कह रहा था कि इस्लामी रस्म रिवाज मुझे बहुत पसन्द हैं। मेरा विचार है कि आर्य समाज अपने सिद्धान्तों पर अटल रहते हुए यदि कुछ इस्लामी रस्म-रिवाज को अपना ले और मुसलमान लोग अपने रस्म-रिवाज को यथापूर्व रखते हुए अपने सिद्धान्तों तथा मान्यताओं पर पुनर्विचार कर सकें और उनमें कुछ परिवर्तन उत्पन्न कर सकें तो आर्य समाज और मुसलमान दोनों के लिए हितकर होगा। मैं कह चुका हूँ कि ईद की रस्म मुझे बहुत पसन्द है। आर्य समाज में इस प्रकार की कोई रस्म नहीं है, जब सारे आर्य समाजी मन्दिर में एकत्रित होकर ईश्वर की प्रार्थना कर सकें।

इसी प्रकार जुमा की नमाज़ है। जब नमाज का समय होता है तो समस्त मुसलमान अपने व्यवसायों को छोड़कर नमाज में सम्मिलित होने के लिये एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं। जमात में करामात है, इसलिए जुमा की नमाज़ इस्लाम को शक्ति प्रदान करती है। वह नमाज में क्या कहते हैं इसका प्रश्न नहीं, इसका भी प्रश्न नहीं कि उनका दृष्टिकोण ईश्वर या संसार के विषय में क्या है ? परन्तु जहाँ तक सूसाइटी का सम्बन्ध है सामाजिक अनुशासन को सन्तुष्टि प्राप्त होती है इसमें कोई संदेह नहीं। इस्लाम का यह रिवाज ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त की याद दिलाता है जिसमें कहा है, साथ चलो, साथ बोलो, और साथ विचार करो।

———

उपसंहार

इस्लाम और आर्य समाज के विषय में इतना कहने के पश्चात् यह प्रश्न शेष रह जाता है कि अब क्या करना चाहिए ? प्रश्न इस्लाम और आर्य समाज का नहीं। यह तो मानवता के दो सीमित विभाग हैं। जितनी पुरातन मानवता है उतना न इस्लाम है न आर्य समाज। रहा प्राकृतिक सिद्धांतों का प्रश्न है—प्रकृति से प्राचीन तो कोई वस्तु है नहीं और न प्राकृतिक सिद्धांतों से प्राचीन कोई सिद्धांत है। इसलिये इस्लाम और आर्य समाज दोनों को प्रकृति तथा उसके सिद्धान्तों का अध्ययन करना और उनका अनुकरण करना आवश्यक है। यदि मानवता सुरक्षित रही तो उसके अंग भी सुरक्षित हैं चाहे इस्लाम के रूप में चाहे आर्य समाज के रूप में। परन्तु यदि मानवता न रही तो फिर क्या है ? यह प्रश्न संसार के लिए भी है और हिन्दुस्तान के लिए भी। बहुत से देश ऐसे हैं जहाँ न आर्य समाज है न इस्लाम। परंतु हिन्दुस्तान में इस्लाम और आर्य समाज दोनों हैं, इसलिये पारस्परिक कलह को दूर करने के लिए और देश के वातावरण को उन्नति का साधक बनाने के लिए बहुत से प्रश्नों पर विचार करना है। इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ कर दिया है। प्रश्न नगरों का भी है और ग्रामों का भी, उच्च वर्ग का भी और निम्न वर्ग का भी। सर्व साधारण तो सोचने से रहे नेताओं को विचार करना चाहिये।

———

मुद्रक—विश्वप्रकाश, कला प्रेस, इलाहाबाद—२

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के

अन्य ग्रंथ
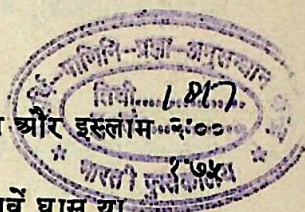
Light of Truth (सत्यार्थ प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद)	१०'००
मीमांसा प्रदीप	६'००
आस्तिकवाद	६'००
जीवात्मा	५'००
अद्वैतवाद	५'००
शांकरभाष्यालोचन	५'००
जीवन-चक्र	५'००
मनुस्मृति	५'००
ऐतरेय ब्राह्मण	५'००
इस्लाम के दीपक	५'००
Vedic Culture	५'००
वेद प्रवचन	५'००
ट्रैक्टमाला	५'००
सायण और दयानन्द	३'००
कम्युनिज्म	२'००
संध्या क्या ? क्यों ? कैसे ?	२'००
भारतीय पतन और उत्थान की कहानी	२'००
Social Reconstruction by Buddha and Dayananda	२'००
आर्य समाज और इस्लाम	२'००
आर्य स्मृति	१'७५
हम क्या खावें घास या मांस	१'७५
आर्योदय काव्यम् (दो भाग) प्रत्येक	१'५०
भगवत् कथा	१'२५
सनातन धर्म सजिल्द	१'२५
सर्व-दर्शनसिद्धान्त-संग्रह	१'००
कर्म-फल-सिद्धान्त	१'००
Landmarks of Dayananda's Teachings	१'००
धर्म-सुधा-सार	०'८०
राष्ट्र निर्माता स्वामी दयानन्द	०'७५
राजा राम मोहन राय, केशव चन्द्रसेन दयानन्द	०'६२
शंकर, रामानुज, दयानन्द	०'३७
वेद और मानव कल्याण	०'३७
Vedic Philosophy	०'२५
	या १६'०० सैकड़ा

ऋषि दयानन्द की अमर पुस्तक संस्कार विधि पर आधारित

श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०, द्वारा रचित

संस्कार माला

आर्य विवाह पद्धति	मूल्य ५० पैसे
नामकरण संस्कार (५०० नामों की सूची सहित)	४० पैसे
चूड़ाकर्म या मुंडन	३० पैसे
मृतक संस्कार	३० पैसे
अन्नप्राशन तथा कर्णवेध	३० पैसे
वैदिक सत्संग (भजन, संध्या, हवन)	४० पैसे

इस माला की निम्न विशेषतायें हैं :—

(१) संस्कार का समय
(२) आवश्यक वस्तुओं की सूची
(३) संस्कार के अंग
(४) संस्कार की पूरी पद्धति व्याख्या सहित
(५) जो मंत्र जितनी वार आवश्यक है उतनी वार छापा है
(६) आँखें बन्द करके संस्कार पद्धति पढ़ते जाइये और संस्कार कराते जाइये।
(७) साधारण से साधारण शिक्षा तथा बुद्धि वाला भी सफल पुरोहित हो सकेगा।

श्री विश्वप्रकाश द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

Life and Teachings of Dayanand	३·००
विधवाओं का इन्साफ	२·५०
पाक विज्ञान	२·००
आर्य समाज के निर्माता	१·५०
बहिनों की सीख	०·८०
महिला सत्यार्थ प्रकाश	००·६०
स्वामी दयानन्द (बाल जीवनी)	०·४०

पता—वैदिक प्रकाशन मन्दिर
१३, लाजपतराय रोड, इलाहाबाद—३